धर्मवीर भारती तथा
लक्ष्मीकांत वर्मा
द्वारा सम्पादित

निकष

समकालीन प्रबुद्ध लेखकों की
उत्कृष्ट नई कृतियों का
अर्द्धवार्षिक संकलन

साहित्य-सहयोग के
तत्वाधान में :

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद
द्वारा प्रकाशित

इस अंक में

आप ही वह व्यक्ति हैं,

विश्वास कीजिये, जिसके लिए 'निकष' की यह योजना प्रारंभ की गई है। आप कोई भी हों, कहीं भी हों, किसी भी वर्ग या दल के हों, पर निकष आपके हाथ में इस समय है, आप हमारे सम्भावित पाठक हो सकते हैं, इसीलिये हम आप से यह स्थिति स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि निकष की इस सारी योजना के केन्द्रबिन्दु आप हैं, इसकी सार्थकता बहुत कुछ आपको लेकर है इसीलिये हम आपको सीधे सम्बोधित कर रहे हैं।

हो सकता है कि इस सीधे सम्बोधन से आपको कुछ अटपटा सा अनुभव हो रहा हो; यह स्वाभाविक भी है क्योंकि यदि कुछ लेखकों, या कुछ इनी गिनी कृतियों को छोड़ दें तो आपमें यानी हिन्दी के पाठक में, और हिन्दी के लेखक में वैसा घनिष्ठ सम्पर्क नहीं स्थापित हो सका जिससे दोनों ओर का संकोच टूट सकता; आप अपने लेखक को, और आपका लेखक आपको निकट से जान सकता और एक दूसरे से आप खुल कर बातें कर सकते। शायद इसकी काफी जिम्मेवारी हिन्दी लेखक पर ही रही है क्योंकि वह या तो आलोचक को सम्बोधित करता रहा है, या अपने समकालीन लेखकों को, किंतु आपसे, अपने पाठक से सीधे बात करने का साहस उसने नहीं दिखलाया, या तो इसलिये कि उसे अपने ऊपर विश्वास नहीं है, या उसे आप पर और आपकी

सुरुचि-संपन्नता पर विश्वास नहीं रहा है। इसका एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि आप दोनों के बीच की खाई चौड़ी होती गई है और इससे दोनों को ही हानि पहुँची है। प्रत्येक जीवन्त साहित्य में हर लेखक का अपना पाठक-मण्डल होता है और हर पाठक के अपने प्रिय लेखक होते हैं। यह सम्बन्ध दोनों के पारस्परिक विकास में सहायक होता है। हमारी पीढ़ी के कन्धों पर जो अत्यन्त महत्वपूर्ण साहित्यिक दायित्व हैं, उनमें एक यह भी है कि हम लेखक और पाठक के टूटे हुए सूत्रों को फिर से जोड़ें। इसीलिए, हम नई पीढ़ी के लेखक आपको सम्बोधित कर रहे हैं, अपने और आपके बीच आलोचक की दीवार (जो वास्तव में झरोखा या द्वार होना चाहिये था पर दीवार ही साबित हुई) को हटाकर सीधे आपसे बात कर रहे हैं, इसमें हमें कोई झिझक, संकोच, अहंकार, या दूरी का व्यवधान नहीं है क्योंकि हमें अपनी कृति के आन्तरिक मूल्य पर भी उतना ही विश्वास है जितना आपकी ग्रहणशीलता पर।

एक काम हमारी राय में हिन्दी आलोचकों को यह अवश्य करना चाहिये था कि हर नयी लेखन-धारा की उच्चतम साहित्यिक स्तर से परीक्षा करने के साथ साथ वे उच्चतम लेखन और आपके बीच में सेतु का कार्य करते। हिन्दी में बहुत सी धाराओं और उपधाराओं के सचमुच कई प्रतिभाशाली आलोचक हुए, जिन्होंने हमारे साहित्य-चिन्तन को विकसित किया पर इस दिशा में भी उन्हें कुछ करना है, यह जैसे उनके ध्यान से उतर गया। हाँ इधर कुछ दिनों से एक बहुत ही दिलचस्प तर्क लेकर आपको हमारे सामने रक्खा जाता रहा है, जिसे आप भी जान लें तो अच्छा है। हिन्दी के कुछ थोड़े-से आलोचक आपकी वकालत करने के नाम पर यह जरूर कहते हुए पाये गये हैं कि हिंदी के इस समस्त नये साहित्य में, कथाओं में, उपन्यासों में, कविताओं में ख़ास तौर से, दुरूहता है इसलिये यह आपको ग्राह्य नहीं है, आप इसको स्वीकार नहीं कर सकते, यह लेखन आप तक पहुँच नहीं सकता। इस बात को इतनी बार, इतने ढंग से, इतने जोशोख़रोश से ये आलोचक कहते रहे हैं, कि अगर आपने हमारी कृतियों का पिछले पाँच छः वर्षों में इतने उत्साह से स्वागत न किया होता तो शायद हमें ख़ुद इस तर्क पर विश्वास होने लगता। पर हम जानते हैं कि यह तर्क कुछ और कारणों से दिया जाता है। इन थोड़े से आलोचकों का आक्रोश किसी दूसरी वजह से है, दुरूहता का तो ख़ामख़्वाह तूमार बाँधा गया है। दुरूहता अगर किसी कृति में इसलिये है कि लेखक जो कुछ कहना चाहता है, उसे कहने में असफल रहा

है, उसका शिल्प उसकी अनुभूति का ही एक आयाम नहीं है, ऊपर से ओढ़ा हुआ है, तब तो बात दूसरी है, परन्तु यदि दुरूहता के अर्थ यह हैं कि लेखक ने छिछले स्तर को छोड़ कर गहरी बातें अभिव्यंजित की हैं, जीवन-प्रक्रिया के असाधारण और मार्मिक क्षणों को पकड़ा है, जटिलतर सम्वेदनाओं को उभारा है, उसकी रचना का स्तर गहरा और ऊँचा है, तो हम यह मानने के लिये क़तई तैयार नहीं हैं कि हमारा पाठक इसमें असमर्थ है कि वह उस स्तर तक पहुँच सके। पाठक केवल बचकानी अनुभूतियाँ, छिछले स्तर और सस्ती अभिरुचि के ही योग्य है और दण्ड-स्वरूप उसे केवल वैसी ही साहित्यिक खुराक दी जानी चाहिये, यह केवल वही कह सकता है जिसमें इतना अहंकार है कि वह पाठक को ऐसा जड़ समझता है जिसका विवेक कभी जाग्रति हो ही नहीं सकता, जिसकी रुचि कभी सुसंस्कृत हो ही नहीं सकती। आपके प्रति इतना अपमानजनक और 'जनवाद' के नाम पर इतना जन-विरोधी तर्क ये कुछ आलोचक क्यों देने लगे हैं, इसका सबब, इसके अलावा और कुछ समझ में नहीं आता कि इनका मूल उद्देश्य आपकी वकालत करना नहीं, बल्कि किसी बहाने हम पर गुस्सा उतारना है और जो प्रहार अपनी समझ से ये हम पर कर रहे हैं वह वस्तुतः आपकी प्रतिष्ठा को चूर-चूर करता है, यह इन्हें दिखाई नहीं पड़ता—आवेश में ये इस क़दर उद्भ्रान्त हो गये हैं।

हमारे सामने इस दिशा में कोई उलझन नहीं है। जितनी स्पष्ट चेतना हमें इस बात की है कि हम क्या, क्यों और किसके लिये लिख रहे हैं, उतनी ही स्पष्ट मान्यता हमें आपकी ग्रहणशीलता के विषय में भी है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि जो हमारे अन्दर सर्वश्रेष्ठ है, गहनतर है, चिरस्थायी है, वह आप में भी है और अगर किसी क्षण में वह हमारे अन्दर जागा है और हमारी कला में अभिव्यक्त हुआ है, तो आप उसका आस्वादन न कर सकें, इसकी कोई वजह नहीं दीखती क्योंकि बीज रूप में वह सब आप में भी मौजूद है। हम आपके श्रेष्ठतम को अपना श्रेष्ठतम देना चाहते हैं। यदि किसी कारण से आपको उच्च स्तर के साहित्य से वंचित रखा गया है, या सुविधाओं का अपहरण कर, शिक्षा से वंचित कर, आप के रसबोध और विवेक को कुण्ठित कर दिया गया है, तो हम आपको इस स्थिति से ऊपर उठ कर अधिकाधिक विकास करने की प्रेरणा न देकर, हम आपको केवल सस्ते रोमांचक और सनसनीखेज या छिछले प्रचारात्मक साहित्य का ही अधिकारी मान बैठें, यह केवल वही कर सकता है

जो अपना सर्वश्रेष्ठ, गहनतम आपको देना पसन्द नहीं करता, आपको उसके योग्य नहीं समझता। जब पाठक की आन्तरिक क्षमता पर पूर्ण विश्वास रख कर उससे लेखक ने सम्पर्क बनाना चाहा, तब हमारे देश का जो 'जन' कबीर की उलटवांसियाँ, सूर के पदों का लीलापरक अर्थ, जायसी की कथा का मर्म और तुलसी के राम के सगुण रूप की जटिलता अच्छी तरह समझ सकता था, वही हमारा पाठक, वही 'जन' अकस्मात जड़ और निर्बुद्धि हो गया है, इतना अविश्वास हम तो अपने देश की जनता पर नहीं कर सकते, विशेषतया तब, जब हम नयी पीढ़ी के लेखकों ने तेजी से अपना पाठक-मण्डल बनते हुए पाया है, अपनी कृतियों में आपकी गहरी रुचि देखी है, वरना शायद हम इतने आत्म-विश्वास से न बोल पाते।

सच तो यह है कि हमारा आत्मविश्वास और हमारा आप पर विश्वास दोनों ही मूलतया एक हैं। हमारा मौलिक विश्वास तो उस 'मनुष्य' में है जो आप में भी है और हम में भी। लेखक के रूप में भी हम अपने अंदर के सुख दुख, राग द्वेष, संघर्ष और उपलब्धि को ही तो आपके अन्दर के मनुष्य तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं। समस्त मूल्यों का आधारबिन्दु तो वह 'मनुष्य' ही है न! हम तो उसी मनुष्य को सर्वोपरि मानते हैं, अपनी समस्त सृजन-प्रक्रिया की प्रेरणा, लक्ष्य और परिमाप मानते हैं।

पर जब हम 'मनुष्यत्व' की बात उठाते हैं तो हम यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि आपके अन्दर का वह 'मनुष्यत्व' कहाँ पर पशुत्व से पृथक है। हम यह मानते हैं कि वह मनुष्यत्व आमाशय और यौनाशय के स्तर से ऊपर उठ कर उच्चतर मूल्यादर्शों की खोज करता है, उनको आचरण में ढालता है, उन्हें उत्तरोत्तर विकसित करता है। इतना ही नहीं, उसके शरीर की प्यास और भूख भी केवल पाशविक स्तर पर नहीं रह जाती, वह उनको परिष्कृत करता है, उनको नये सौन्दर्यपरक अर्थ देता है। इतना ही नहीं, वह जंगली, बर्बर पशु-समूहों की स्थिति से ऊपर उठकर एक नये प्रकार की सहयोगी वृत्ति को अपनाता है जिसमें प्रत्येक के व्यक्तित्व को पूर्ण विकास मिल सके। आप में से हरेक की आन्तरिकता अपनी कुछ विशेषताएँ लिये हुए है, वे ही आप को 'आप' बनाती हैं, वरना आप 'कोई भी' हो सकते थे। आप का यह व्यक्तित्व असीम सम्भावनाओं से निहित है, और असीम सामर्थ्य से युक्त भी। शायद आपके व्यक्तित्व का अतुल सामर्थ्य से युक्त होना ही उनकी आँख में खटकता

है जो आपको यन्त्र या पशु बनाना चाहते हैं। इसीलिये वे पहले तो वे 'व्यक्तित्व' जैसे किसी तत्व को ही अस्वीकार करते हैं, और यदि इस पर उन्हें टोका गया तो वे तुरन्त कहते हैं कि 'व्यक्तित्व' का होना ख़तरनाक है, सामाजिक कल्याण के लिये! पर 'सामाजिकता' और 'व्यक्तित्व' में यह अनिवार्य विरोध की कल्पना कर लेना भी वैसा ही निरर्थक तर्क है, क्योंकि आपके व्यक्तित्व की यह विलक्षणता या दूसरों से पृथकता अनिवार्य रूप से दूसरे की विरोधी नहीं है, वरन दूसरे व्यक्तित्वों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर ही यह पूर्णता पाती है। स्वस्थ सामाजिकता तो एक सन्तुलित व्यक्तित्व का ही लक्षण है। सामाजिकता की तो व्यवस्था ही मनुष्य ने इसलिये की है कि किसी का व्यक्तित्व किसी दूसरे के आड़े न आये, सब अपना पूर्णतम विकास कर सकें, और जिसका व्यक्तित्व जितना विकसित होता है उतनी ही सफलता से वह अपने स्वधर्म, और अपने युगधर्म की पूर्ण संगति बिठा लेता है। इस तरह आपकी एक वैयक्तिक जीवन-पद्धति हो जाती है जो बहुमुखी है—एक ओर वह आपकी, और सर्वथा आपकी विलक्षण सम्भावनाओं का साक्षात्कार कराने में सहायक होती है, दूसरी ओर वह व्यापक मानवीय धरातल में अपनी जड़ें फेंकती है, तीसरी ओर वह अन्तर्निहित बर्बर पाशविक संस्कारों से ऊँचे मूल्यादर्शों की ओर उन्मुख रहती है, चौथी ओर वह उन्हीं पाशविक क्षुधाओं को सजाती सँवारती रहती है। जैसे एक हीरे में सैकड़ों पहल रहते हैं, उसी तरह आपके कितने ही पहल हैं। और अगर हम आपको चित्रित करना चाहते हैं और सही चित्रित करना चाहते हैं तो हमें तो ऐसा चित्र देना होगा जो आपको सभी आयामों सहित सम्पूर्ण ढंग से व्यंजित कर सके। वरना एक ही आध पहल आए तो आप उसे देख कर निराशा से सर हिला कर कहेंगे—"भई, इस तस्वीर में सिर्फ बाल तो ज़रूर हमारे जैसे हैं पर बाक़ी शक्ल तो पता नहीं किस दैत्य की बनाई है।"

हमारा अनुमान है हिन्दी साहित्य में पिछले दिनों ऐसी गल्तियाँ हुई हैं और आपको इसकी शिकायत रही है। आपके सामने ऐसा ढेरों साहित्य प्रस्तुत किया गया, जो आपका नाम लेकर, जनता की दुहाई देकर रचा गया था पर जब आपने उसे देखा तो उसमें आपको कहीं अपना नाम निशान नज़र नहीं आया, सिर्फ उसमें अखबार और पोस्टर आदमीनुमा कार्ट पर चिपका दिये गये थे और उनके पीछे दूसरे का आवाज़ 'डायलाग' बोलता था। आपने जब विरोध किया और कहा—"भई, हम तो ऐसे नहीं हैं!" तब आपसे कहा

गया—"किस युग में किस साहित्य में, आपकी ऐसी तस्वीर खींची गई जो प्रचार से मुक्त हो ? और फिर इस युग में तो कौन राजनीति से मुक्त हो सकता है ?" आपने शायद हुज्जत करना पसन्द नहीं किया वरना इसका एक सीधा सा जवाब था—"भाई, हो सकता है हर साहित्य में थोड़ा बहुत प्रचार रहा हो, पर उसके प्रचार ने हमें कम छुआ है। उसमें कुछ और था जिसने हमें छुआ है। जायसी की पद्मावत में सूफी मत का प्रचार है, पर हमें उसका प्रचार नहीं छू पाता। वह सब जो मनुष्यत्व की भूमि पर लिखा गया था, वह हमें छूता है—और वह प्रचार नहीं है। हम आपकी राजनीति के विरोधी होते तब भी आपकी कृतियाँ हमें छू पातीं तो हम आपका लोहा मान लेते, पर ......" पर विश्वास कीजिये इसमें उनका ज्यादा कसूर नहीं, उनका उत्तरदायित्व आपके या आपके मनुष्यत्व के प्रति है ही नहीं...इसीलिये आप उनसे बहस में नहीं पड़े यह अच्छा ही किया।

इससे बिलकुल दूसरी दिशा में ऐसा ढेरों साहित्य प्रस्तुत हुआ जिसमें आपका एक दूसरे प्रकार का चित्र खींचा गया—आपके अन्तर्मन का पूरा 'एटलस' जिसमें अगणित गहन गुफाएँ और अन्धे गह्वर थे, और वंचक, कायर, व्यक्तित्व-विहीन, विकलांग प्रेतों का तो पूरा 'जू' सजा हुआ था। आपने देखा तो एक जुगुप्सा तो हुई ही, पर आपने यह भी सोचा कि हो सकता है आपमें यह भी हो, पर उसके अतिरिक्त आपमें गहरी पीड़ाओं को सहने की क्षमता भी तो है, आपमें तन कर खड़े होने की शक्ति भी तो है, आपमें 'व्यक्तित्व' भी तो है। है तो होने दीजिये, बेचारे ऐसे लेखकों की मुसीबत भी तो समझिये जो कभी आपसे घुलमिल नहीं पाये, आपके दुख दर्द में आपके साथ नहीं रहे, मिले भी तो अपनी आँखों पर से कभी हीनग्रन्थियों का पर्दा नहीं उठने दिया, और अन्त में प्लानचेट के माध्यम की तरह जब ख़ाली काग़ज सामने रख, आसपास की दुनिया से आँखें मूँद हाथ में पेन्सिल लेकर बैठे तो उनके अन्तर्मन ने जो आड़ी-तिरछी रेखाओं वाला वीभत्स चित्र खींच दिया उसे वे बेचारे अपना कैसे कह देते। उन्होंने उस पर बेतक़ल्लुफ़ी से आपका नाम लिख दिया। मज़ाक यह, कि जब वे खुद इस तरह के खेल से ऊब गये, तभी उनके कान में 'सामाजिक-समाधान' का शब्द पड़ा और उन्होंने वही तस्वीरें पलट कर पीछे 'सामाजिक-समाधान' के मनचाहे पुर्जे लिखने शुरू किये, वह भी उसी तरह आँख मूँद कर ! आपने पूछा कि 'इनमें भी कहीं 'हम' हैं, कहीं हमारी 'प्राणवत्ता' है, कहीं हमारा 'व्यक्तित्व' है ?......तो आपने पाया

कि 'व्यक्तित्व' का नाम सुन कर तो वे उसी तरह घबरा उठते हैं जैसे टिकट का नाम सुनकर वह जिसके पास टिकट न हो ।

पर आपकी मुसीबत यहीं नहीं ख़त्म हुई । कभी ऐसा साहित्य आया जिसमें कटु यथार्थ से मुँह चुराया गया है और सतह के फेनफूलों को लेखक दुलारता रहा, और कभी ऐसा भी आया जिसमें धूर्तता या उच्छृङ्खलता को ही क्रांति का पर्याय मान लिया गया । इधर धनलोलुप व्यवसायियों ने भी सस्ते रूमानी, घोर अयथार्थ, रोमांचक साहित्य का इतना ऊँचा ढेर लगा दिया कि आपका दम घुटने लगा; उधर एक के बाद एक जासूस पिस्तौलें लिये बुकस्टालों पर नज़र आने लगे और उनसे नज़र हटी तो भूत प्रेतों की सच्ची कहानियाँ !

ऐसा नहीं कि इस बीच में सशक्त कृतियाँ नहीं आईं, आपको समझने वाले लेखक नहीं आये । पर यह ज़रूर है कि 'मिथ्या' पर आधारित साहित्य इतना अधिक आया कि उसने खरे और स्थायी मूल्य वाले कृतित्व को बिल्कुल छा लिया । ऐसे तमाम साहित्य के बाद जब नये लेखकों की कृतियाँ आपके सामने आईं तो हम जानते हैं कि आपको हवा के ताज़े झोंके की तरह लगी होंगी । कमियों और कच्चेपन के बावजूद उनमें कम से कम हाड़ मांस के पात्र तो हैं, वे कम से कम वास्तविक समस्याओं से उलझते तो हैं, झूठे और कल्पित, आत्मप्रक्षेपित कुहालोक में न भटक कर, उनमें वास्तविक संघर्षों से आंख मिला कर खड़े होने का साहस तो है, वे माथा ऊंचा कर और होठ बन्द कर पीड़ाओं को सहते तो हैं, उनमें जीवन-प्रक्रिया के गहरे, तथा और गहरे स्तरों में उतर कर मोती खोजने की प्यास तो है और सब से बढ़कर यह कि वे अपने पाठक से उसी की भाषा में बात करना तो जानते हैं !

किन्तु केवल इतना ही हो तो कौन सी ऐसी बड़ी बात है, आप पूछ सकते हैं । नहीं, नये लेखक की मुख्य शक्ति तो इस बात में है कि इस बार वह मात्र मनोविश्लेषण या राजनीति शास्त्र पढ़ कर आपको नहीं आंकता, वरन् आपकी कसौटी पर सारे ज्ञान विज्ञान को जाँचता है; सीधे आपके जीवन को, नई से नई पृष्ठभूमि में परख कर, आपके व्यक्तित्व के तमाम आयामों को माप कर, आपकी तमाम निहित संभावनाओं को समझ कर, वह उसे खोजना चाहता है, जो आपका अंतरतम है; चारों ओर के टूटते हुए कगारों और खिसकते हुए धरातलों में वह आप की कथा है जो खुद भी छिपा रहता है, आपको भी छिपाये रखता है । उन स्थायी मानव मूल्यों को वह निरन्तर बदलने वाली, नयी से नयी युग

भूमिका में खोज कर प्रतिष्ठित करने के लिये यत्नशील है। वह आपको कितने ही बिन्दुओं पर स्थित होकर समझ रहा है, जटिल से जटिल परिवेश और अन्धेरी से अन्धेरी भावभूमि पर वह निर्भीक बढ़ रहा है, ताकि इस बार आप देख कर सन्तोष से कह सकें "हाँ, इसमें मेरा पूर्णतम रूप झलका है, इसमें मेरा श्रेष्ठतम उतरा है!"

किन्तु आपके इस चित्र को नये लेखक हवा में नहीं बना रहे हैं। इसके लिये जैसे कुम्हार मिट्टी से जूझता है उसी तरह वे आज के यथार्थ से जूझ रहे हैं, उसमें निर्भीक धँस रहे हैं। यथार्थ की घोरतम कटुता से मुँह न छिपाना और उसके तमाम अच्छे बुरे अनुभवों को बिना किसी कुण्ठा के स्वीकार करना वे अपना कर्तव्य समझते हैं। पर स्वीकृति को वे यथावत् अनुकृति नहीं मानते। यथार्थ के नये स्तर, नैतिकता की नई चेतना, उदार मानवीय प्रतिमान से पृथक नहीं हो सकते। नया मानवीय यथार्थ टुकड़ों में नहीं, समग्रता में ही उभारा जाना चाहिये, यह नई साहित्यिक मर्यादा की एक महत्वपूर्ण मान्यता है।

उनकी मर्यादा का एक दूसरा पक्ष है, साहित्यिक सौन्दर्य की पुनर्प्रतिष्ठा। सौन्दर्य से उनका तात्पर्य है—अनुपात, संतुलन, व्यवस्था और रूप-गठन। एक उपयोगितावादी दृष्टिकोण इधर प्रचलित रहा है कि यदि साहित्य की विषय-वस्तु ठीक है तो उसके सौन्दर्य की विशेष चिन्ता नहीं – घी का लड्डू टेढ़ा भी भला होता है। किन्तु अनुपातहीन, असन्तुलित और अव्यवस्थित कथन स्थायी साहित्य तो नहीं हो सकता। और उससे खतरा यह भी है कि हर अकुशल, शिल्प-चेतनाविहीन लेखक जिसका लड्डू टेढ़ा ही बनता है अपने लड्डू को, टेढ़ेपन के ही बल पर घी का साबित करने लगे। नये लेखक का प्रयास इस ओर है कि वह उस शिल्पवादी का भी तिरस्कार करे जो 'वस्तु' को महत्व ही नहीं देता और उस उपयोगितावादी का भी जो 'शिल्प' को, सौन्दर्य-दृष्टि को ही वर्जित (टैबू) मानता है। वह सौन्दर्यबोध का प्रबल हामी है और अपने सौन्दर्यबोध को नया सौन्दर्य-बोध कहता है। 'नया' इसलिये कहता है कि यथार्थ के नये स्तरों पर मानव मूल्य के नये सन्दर्भों में उसे नये अनुपात खोजने पड़ते हैं, नया संतुलन स्थापित करना पड़ता है, नई व्यवस्था लानी पड़ती है। और चूँकि हर परिस्थिति में यह अनुपात, यह सन्तुलन, यह व्यवस्था, स्थायी नियमों के अनुसार, पर नये सन्दर्भ और नई व्याख्याओं में आते हैं अतः जो साहित्यिक परंपरा जड़ और मृत नहीं है वह क्षण-क्षण नई होती चलती है।

जो परम्परा की इस प्रकृति को नहीं समझते वे 'नये' का विरोध करते

है । और उनका पहला आरोप होता है कि ये 'परंपराविहीन' हैं । यह तो पुराने ढंग के रूढ़िवादियों का गिला है । नये ढंग के रूढ़िवादियों का कहना है कि "ये अमुक की परम्परा में नहीं हैं।" अर्थात ये फलाँ लेखक का अनुकरण क्यों नहीं करते ? ऐसे लोगों को यह समझाने की जरूरत है कि हम नये इसलिये हैं क्योंकि हमारा पाठक आधुनिक है, उसकी समस्याएँ नई हैं । उसका सारा परिवेश नया है । हम नया इसलिये लिखते हैं कि 'नया' देश काल का यथार्थ है ; हमारा पाठक इसलिये पढ़ता है कि हमारा और उसका यथार्थ अलग-अलग नहीं है। रही परम्परा, सो हम एक अकर्मण्य पुत्र की भाँति उसे दफना कर छोड़ नहीं देना चाहते कि वह शताब्दियों बाद केवल संग्रहालय के लिये टेराकोटा बन कर रह जाय, और न हम यही श्रेयस्कर समझते हैं कि कृपणों की भाँति जीते ही जी बौद्धिक मौत मर कर उस पर साँप बन कर बैठ जाँय और अपनी राह जाने वाले हर भलेमानुस पर अकारण फुफकारते रहें ।

इसीलिये नये लेखक का दायित्व जितना गहन है, उतना ही साहसपूर्ण भी है । वह आधुनिकतम सन्दर्भ में स्थायी मानव मूल्य के नये अनुपात और नये सन्तुलन खोज रहा है ताकि मनुष्य की असीम सम्भावनाएँ मुक्त हो सकें, प्रतिफलित हो सकें । मानव-मुक्ति ही उसके सृजन अभियान का लक्ष्य है ।

जिस स्तर पर जितने विभिन्न दृष्टिकोणों से, जितने विविध साहित्य-रूपों में (उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, कविता में) जितनी संख्या में, नये लेखक इस प्रयास में लगे हैं, उसे देख कर आपको आश्चर्य होगा । पर आश्चर्य से भी अधिक गर्व की बात तो आपको यह लगेगी कि पिछली पीढ़ी के बहुत से श्रेष्ठतम लेखक ऐसे हैं जो आज भी केवल सजीव ही नहीं हैं, वरन् उन्होंने नई से नई चेतना को आत्मसात् किया है, और इन नये स्वरों के साथ उनका स्वर भी है जो सबसे उदात्त है, परिपक्व है, अनुभवसिक्त है । इसीलिये यह समझ लेना होगा कि नव-लेखन वह नहीं है जो कुछ भी नया लेखक लिख दे या जो भी नई कृति पुराना लेखक दे, बल्कि वह कृति जो चाहे नये लेखक की हो या पुराने की, जिसमें नये मूल्यों की चेतना है, यथार्थ का नया स्तर है, नया सौन्दर्य-बोध है । और आप इसमें पायेंगे कि कई जागरूक और जीवन्त पुराने लेखक हिन्दी के नव-लेखन को समृद्ध, सशक्त और गौरवशाली बना रहे हैं ।

इस महत्वपूर्ण मोड़ पर आपके, अपने पाठक के सहयोग की, साहित्य को

सबसे अधिक आवश्यकता है। इसीलिये हमने चाहा कि जितने विभिन्न बिंदुओं से, जितनी विभिन्न शैलियों में, जितने विभिन्न आयामों में, आपका और अपने युग-जीवन का चित्रण आज हिन्दी के नव-लेखन में हो रहा है, उसका महत्वपूर्ण अंश संकलित होकर आप तक नियमित रूप से पहुँचता रहे। हम आपका सक्रिय सहयोग चाहते हैं। आप इन नई कृतियों को पढ़ें। पढ़ कर रस लें, जांचें, परखें विश्लेषण करें, पर सिर्फ इतना ही नहीं, अपनी प्रतिक्रियाएँ आप हमें भेजें, हम 'निकष' के माध्यम से आपके लेखकों तक उन्हें पहुँचाएँगे। हम चाहते हैं कि इस निकष की योजना से पाठक और लेखक के बीच का व्यवधान टूटे, क्योंकि हम फिर दुहराते हैं कि जो आपमें श्रेष्ठतम है, विकसित रागबोध और मानव मूल्यों की गहन चेतना है, वही हमारी कसौटी, हमारा 'निकष' है। इसीलिये जब हमने कहा कि आप ही हमारी योजना के केन्द्रबिन्दु हैं, तो वह केवल शिष्टाचार मात्र नहीं है, उस के पीछे हमारी पूरी साहित्यिक आस्था है।

विपिन की छः रेखाकृतियाँ

भगवतशरण उपाध्याय

चित्रण में रेखाओं और वर्णों का भाग होता है। चित्रकार अपनी तूलिका, शलाका और लंबकूर्च से उसे सम्पन्न करता है। भाव और आकृतियों को लेकर चित्रजगत, अभिराम और घृणित, और इन दोनों के बीच की अनन्त भावनायें, इनसे अन्य भी चित्र-विकार, हममें जनता है। अनेक प्रकार से हममें उसके प्रति प्रतिक्रिया होती है।

पर अकेली रेखाओं की भी एक दुनिया है, अपनी दुनिया। और कभी-कभी तो इन रेखाओं की शक्ति अत्यन्त प्रेरक सिद्ध होती है। उनमें केवल suggestion होता है पर हमारी भाव-चेतना का स्पर्श करते ही 'सजेश्शन' (व्यंजना) भौतिक अभौतिक स्तरों का तारतम्य खोलता चला जाता है। इससे अनेक बार, अक्सर, रेखाओं की शक्ति चित्र से अधिक व्यापक होती है। वह परिधि की मात्राओं को लाँघ जाती है। अनेक बार यह असर गैर-पेशेवर (अमेच्यिर) रेखाकारों ने पैदा किया है। विपिन अग्रवाल ऐसे ही रेखाकार हैं। इनके रेखांकनों की शक्ति देखकर एक बार मैं स्तंभित रह गया।

इस रेखाकृति को देखिये जिसका शीर्षक रेखाकार ने 'उपदेश' दिया है। मुझे अच्छा लगता यदि वह अपनी कृतियों को शीर्षक न देता। खैर 'उपदेश' [illegible] अंकन है। 'उपदेश' में चेहरे पर दूसरी रेखा इतनी [illegible] कि उसके बिना रूपांकन की सारी शक्ति लुप्त हो जाती [illegible] न्योन्याश्रित भाव-चेतनाओं के पारस्परिक स्पर्श को देखिये। इसकी अथवा अन्य रेखांकनों की व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

यह दूसरा अंकन भी, जिसमें माँ से बच्चा चिपका हुआ है और जिसे रेखाकार 'माँ की गोद में परित्यक्त शिशु' कहता है, प्रौढ़ है। मैं समझता हूँ बच्चे को 'परित्यक्त' कहने की कोई आवश्यकता न थी। वह स्वाभाविक साधारण शिशु भी हो सकता है जो इठलाता हुआ माँ की छाती में घुस जाय। माँ की ठुड्डी
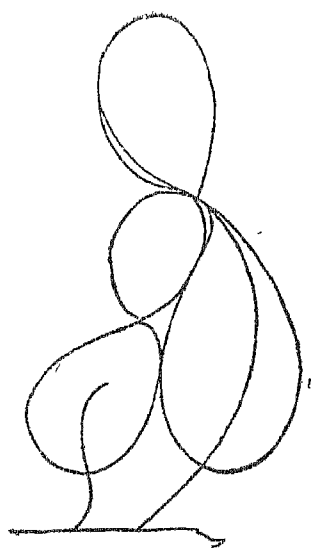
माँ की गोद में परित्यक्त शिशु
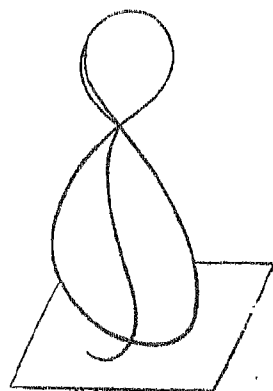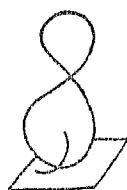
उपदेश

पूजा
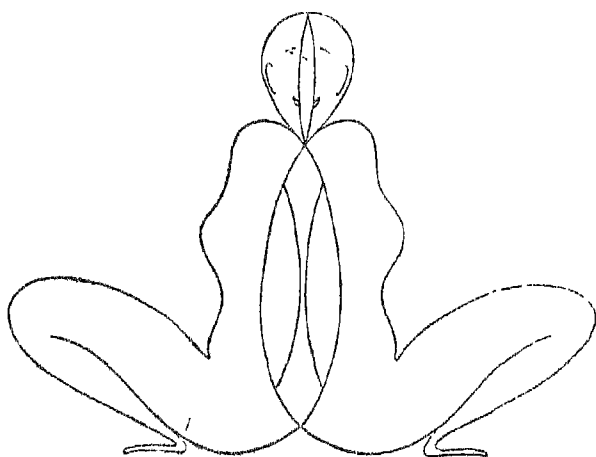
एक या दो
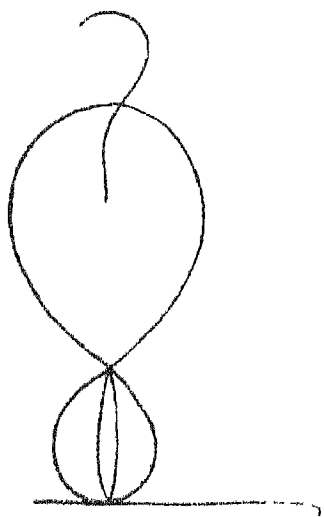
असाध्य
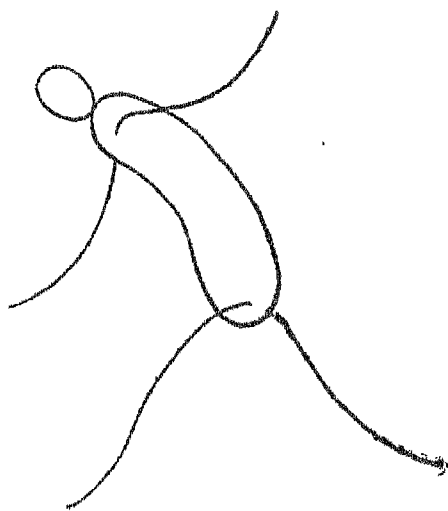
घर की ओर

उसके सिर पर टिकी है। यदि वह उसकी गरदन के निचले भाग के सहित बच्चे के सिर पर फैल जाती तो प्यार की गहराई शायद बढ़ जाती।

'पूजा' प्रतीकात्मक है पर आदिम विश्वास का बाध्यकर रहस्य मानव विकास की इस पहली कड़ी में स्पष्ट हो जाता है। वृक्ष की शाखा जिस तने से फूटती है उससे पत्थर-देव भी टिका है। उसने अभी आकृति भी धारण नहीं की है। और नारी? वह अपने आदिम सिंगार में, अकृत्रिम भावनाओं से प्रेरित, निष्ठा में रत है। अंकन elaborate है।

'एक या दो' एक ही के दो मुख हैं। इसमें अंकन की सुघराई है, भावों की नहीं। व्यक्तित्व के दोमुखे भाव का अंकन सही तब हो सकता था जब रेखाकार ने इनमें से एक को सर्वथा दूसरे से भिन्न कर दिया होता।

इस पाँचवे रेखांकन का शीर्षक रेखाकार ने 'असाध्य' दिया है—समस्या उसके जीवन के एक घटना से सम्बन्ध रखती है। विद्यार्थी है, परीक्षा-हाल में बैठा है, प्रश्नपत्र उसे चक्कर में डाल देता है। वह जब कुछ कर नहीं पाता तो हल न हो सकने वाली समस्या का इस रूप में अंकन कर देता है। यह एक आकृति है, सम्भवतः पहचाने न जाने वाले, समस्या के बोझ से आकार विकृता। सिर परेशानी से बढ़कर फैल गया है और उस पर हावी है प्रश्न!

परन्तु रेखाकार की असाधारण सफल कृति तो है 'घर की ओर'। मैंने रेखांकन बहुत देखे हैं, परन्तु बहुत थोड़े हैं जिन्हें मैं याद रख सका हूं। प्रस्तुत अंकन शायद उन थोड़ों में ही रहेगा जिनकी छाप मेरी स्मृति पर गहरी पड़ी है। एक रेखा में बाहें, दूसरी में टाँगें, तीसरी में मस्तक और चौथी में धड़ अंकित है। पर अद्भुत शक्ति है इस अङ्कन में। इन अङ्कनों में यह मुझे सबसे अधिक महत्व का लगा।

रेखा कितनी सबल हो सकती है, कहना न होगा। रेखाकार अपनी दुनिया को रेखाओं के स्पर्श-मात्र से, उनके suggestion से सिरजता है। चित्र की गहराइयाँ उसमें नहीं होतीं, विश्लेषक की नोक होती है। इन अङ्कनों को देखकर कोई भी इनके छिपे संसार में झाँक सकता है, उसकी परिधि की व्यापकता को समझ सकता है, साथ ही वह रेखाकार की भावी सम्भावनाओं का भी अन्दाज़ लगा सकता है। हमें उससे बड़ी आशाएँ हैं।

सोनजुही

सुमित्रानंदन पंत

सोनजुही की बेल नवेली
एक वनस्पति वर्ष,—हर्ष से खेली, फूली, फैली !
आँगन के बाड़े पर चढ़कर, दारु खंभ को गलबाँही भर,
कुहनी टेक कँगूरे पर वह मुसकाती अलबेली !
सोनजुही की बेल नवेली !

दुबली पतली देहलतर, लोनी लंबाई,—प्रेमडोर सी सहज सुहाई,
फूलों के गुच्छों-से उभरे अंगों की गोलाई, निखरे रंगों की गोराई,—
शोभा की सारी सुघराई जाने कब भुजगी ने पाई ? सौरभ के
पलने में झूली, मौन मधुरिमा में निज भूली,—
यह ममता की मधुर लता मन के आँगन में छाई !
सोनजुही की बेल लजीली, पहिले अब मुसकाई !

एक टाँग पर उचक खड़ी हो, मुग्धा वय से अधिक बड़ी हो,
पैर उठा, कृश पिंडुली पर धर, घुटना मोड़, चित्र बन सुंदर,
पल्लव देही के मृदु मांसल, खिसका धूपछाँह का आँचल,
पंख सीप के खोल पवन में वन की हरी परी आँगन में
उठ अंगूठे के बल ऊपर, उड़ने को अब छूने अंबर !
सोनजुही की बेल हठीली, अटकी सधी अधर पर !

झालरदार गरारा पहने, स्वर्णिम कलियों के सज गहने,
बूँटे कढ़ी चूनरी फहरा, शोभा की लहरी सी लहरा,
तारों की सी छाँह साँवली, सीधे पग धरती न बावली,
तनुता के ही भार से भरी, अंगभंगिमा भरी, छरहरी,
उद्भिद जग की सी निर्झरिणी, हरित नीर की बहती-टहनी,
सोनजुही की बेल, चौकड़ी भरती चंचल हिरनी !

आकांक्षा सी उर से लिपटी, प्राणों के रजराग से निपटी,
भू यौवन की सी अँगड़ाई, मधु स्वप्नों की सी परछाईं,
रीढ़ स्तंभ का ले अवलंबन, धरा चेतना करती रोहण,—
आ', विकास पथ में भूजीवन ! सोनजुही की बेल
गंध बन उड़ी, भरा नभ प्रांगण !

मूल स्थूल धरती के भीतर, खींच अचेतन का तम बाहर,
वह अपने अंतर का प्रियधन, शांति-ध्वजा सा शुभ्र भणि सुमन
कंपित मृदुल हथेली पर धर, उठा क्षीण भुज वृंत उच्चतर,
अर्पित करती लो, प्रकाश को, निज अधरों के सुधा हास को,
प्राणों के स्वर्णिम हुलास को ! —सोनजुही की बेल—समर्पित
करती भू जीवन विकास को, उर सुवास को !

मानव मन कर रहा प्रतीक्षा, सोनजुही से ले नव दीक्षा
उसके उर के अंध राग से, प्राणों की हरिताभ आग से
फूटे चेतन शुभ्र शिखा,— जो सके दिखा—मानव को नवपथ !
जीवन का रथ बढ़े— प्रेम हो जग का इति अथ,
त्याग हो सारथि अभिमत !... सोनजुही दृष्टांत—मनुज
'संघर्षों' से रलथ, रीढ़ कर्दम में लथपथ !

कोयला भई न राख

केशवप्रसाद मिश्र

●

गर्मी की छुट्टियों में गाँव आने के दूसरे ही दिन, काकाबो के दमाद के मरने की बात बताते हुये माँ ने कहा कि भले ही मैं और किसी के घर मिलने के लिये न जाऊं, पर काकाबो के घर जाकर पुछार जरूर कर आऊँ। पटुए की तरह सफेद बालों वाली पचास साल की विधवा, गाँव भर की काकाबो, एक डाली में चना ले भुजवाने को गोंसार जा रही थी। गलियारे में से ही मुझे आते देख, आँगन में लौट पड़ी, और निकसार से सटे घर में जा धरती पर बैठकर राग से रोने लगीं। रुलाई सुन उनकी विधवा बेटी, बीछा बहिना, बगल के घर से निकल उनका साथ देने लगी।

माटी के उस लिपे पुते घर में पड़ी एक खटिया पर बैठे, मन मारे, धरती देखते हुये, उनके चुप होने की राह जोहता रहा। एक दो बार बीछा बहिना और काकाबो को सिर हिला कर चुप हो जाने को कहा। बहिना के पहले ही काकाबो चुप हो किसी को पुकारती हुई बोली : 'ऐ रजियाँ! भंडार घर में से खाँड़ निकाल एक लोटा रस तो बना ला बेटी।'

बीछा बहिना चुप हो गई। काकाबो मेरे आने की एक दो बातें पूछकर गोंसार चली गई तो बीछा बहिना बतियाने लगी। दरवाजे के पलड़े से आवाज़ हुई तो देखा कि चौखट के बाहर से ही पलड़े की ओट में से साफ मंजे हुए लोटे में भरा हुआ खाँड़ का रस, और ग्लास में पानी, कोई भीतर घर में बढ़ा रहा है।

'किससे लजाती है? भीतर तो आकर देख कि कौन आया है'? बीछा बहिना बोली।

बहिना के चुप होने के बाद ऐसा लगा कि दरवाजे में थोड़ा झुककर जल्दी से कोई सिर एक बार भीतर झाँक गया।

'बड़ी लजकोंकर है। जब से तेरा आना सुना बार-बार तेरे घर चलने को कह रही थी। अब तू ही आया है तो इसका यह हाल। भीतर क्यों नहीं आती।'

'कौन है बहिना ?'

'भीतर आवेगी तब तो देखेगा। बाहर चौखट से सटी खड़ी है। अपने गाँव में भी यही हाल करती है। जल्दी किसी के घर नहीं जाती। अभी क्वांरी है तो यह हाल, ब्याह हो जाने पर तो इसकी कोई परछांई भी नहीं पांगेगा। चल ! आ भीतर।'

बहिना की कड़ी आवाज़ का फल यह हुआ कि एक सयानी दुबली पतली लड़की, बहुत ही हिसाब से अपने बदन को ढाँकती हुई, सिमट कर चुपचाप बीछा बहिना से सटकर नीचे देखती हुई धरती पर बैठ गई। हाथ पैर की उंगलियों पर नजर गई तो लगा जैसे कभी बहुत पास से देखा हो। चेहरे की दो गोल बड़ी-बड़ी आम की फाँक सी आँखें, बहुत निकट की अपनी सी लगीं। लेकिन ठीक से याद करने पर दिमाग के किसी कोने पर जैसे ज़ोर पड़ रहा था। चुप हो सिर खुजलाते देखकर बहिना बोल उठी 'तू भी नहीं चीन्हता ! देख इसके ललाट पर का पटरी का चिन्ह तो अभी वैसा ही है।'

धीरे-धीरे जैसे सामने की कोई धुन्ध हट रही थी।

'अभी तक नहीं पहिचाना, मेरे सौत की लड़की। तू तो बाहर पढ़ने लगा। गाँव तो बहुत कम आता है। चार-पाँच साल पहिले बीच में मेरे साथ एक बार और आयी थी तब भी तुझे पूछ रही थी।'

लगभग दस साल पहले फेनी बाबा के डीह पर खेलती हुई सभी लड़कों को छोड़कर मुझे ही राजा बना और अपने को रानी मान, मेरी बगल में बैठकर गोबरधन की ईर्ष्या का शिकार हो जिसने उसकी पटरी से अपना सिर फोड़वा लिया था यह क्या......। माथे पर के निशान को फिर से देखा तो अनायास ही मुँह से निकल पड़ा, अरे ! 'यह रेवती है......बहुत बड़ी हो गई। एक-दम ब्याहने लायक !'

कहने को तो कह गया, पर बाद के तीन शब्दों का भाव सोच, बड़ा संकोच हुआ।

'पानी और लड़की की बाढ़ ऐसी ही होती है। जाने कौन देश में इसकी गोटी गिरी है ! तीन साल की उम्र में महतारी चल बसी। माँग भरने की दौड़-धूप में बाप उठ गया। बछिया ने उस जन्म में न जाने कैसी कमाई थी।' कहते हुए बहिना की आँखें भर आई। 'लड़के तो बहुत देखे, पर इसके लायक कोई नहीं उतरा। तेरे साथ तो बहुत से पढ़ते होंगे। मेरी औकात का कोई लड़का अगर मन पर चढ़े तो बताना।'

घर न जाकर खंड चला आया। दिन में पछुआ चलने से बड़ी उमस थी। खलिहान में भैया दँवरी कर रहे थे। नहाने को कहा तो बोले कि पछुआ चलने से डांठ खूब टूट रहे हैं। मुझे अभी दो पयर की दँवरी करनी है। दो घंटे से कम नहीं लगेंगे। तू जा नहा ले।

खंड के सामने कुएं की पक्की जगत पर आके चुपचाप बैठ गया। वर्षों पहले फेनी बाबा के माटी के डीह पर खेले हुए उस खेल का मोल, जैसे कान में कोई सलाह से समझाने लगा। और बात की गहराई कान से होते हुए शरीर में उतरने लगी। नाँद में मुँह डुबाकर चभर-चभर सानी खाते हुए बैलों की आवाज़ सुनते हुये, सामने के कटे सूने खेतों को बड़ी देर तक देखता रहा।

'शहर से लौटने के बाद गाँव में भला मन लगता है' घूम कर देखा तो माथे में गमछी लपेटे कान पर जनेऊ चढ़ाये गोबरधन खड़ा था।

'क्या सोच रहे हो, चलो मर-मैदान हो आवें।'

'चलो।'

'अभी से इतना चुप क्यों रहता है यार! कुछ हँसा बोला कर! हम लोग तो खेती गृहस्थी में सना ही गये। और अपनी भौजाई से भेंट करने क्यों नहीं आया? ओरहन दे रही थी कि लरिकैंया का संगी होने से क्या हुआ। शहर में जाके सभी बदल जाते हैं।' डंड़ार पर पीछे-पीछे चलता हुआ गोबरधन कह रहा था, 'अच्छा है' डाक्टरी पढ़ता है न। खूब पढ़ ले। डाक्टर बनने के बाद ही ब्याह करना। और हाँ, सुना है रेवती आई है। बड़ी विपत्ति में पड़ गई बेचारी। बाप मर गया। अब तो बहुत सयानी हो गयी होगी।''

बिना उत्तर दिये चुपचाप डंड़ार पर चलता रहा। मन तो फेनी बाबा के डीह और माटी के किसी लिपे पुते घर में था कि इतने साल बाद देखा-देखी भी हुई तो मुँह से एक बात तक नहीं निकली। रेवती क्या सोचती होगी। रह रह के मन में कुछ गड़ जाता, 'अब तो उसे यहीं रहना पड़ेगा।' गोबरधन फिर बोलने लगा। गाँव पर तो उसका कोई अपना रहा नहीं। सुना है कोई खास जगह जमीन भी नहीं है। अब तो उसके मामा रामसरन चौबे को ही उसका ब्याह करना पड़ेगा। विधवा बहिन का भार, बहिन की सौत की बेटी का भार, एक बैल की खेती से कैसे चलेगा?'

उसी तरह चुपचाप चलता रहा।

'अच्छा तो अब इधर-उधर बैठ जांय। अभी गाय दुहनी है। अधिक

आगे चलने से देर हो जायेगी। सुन, कल सवेरे घर आना। और अपने भतीजे को देख जाना।'

अरसे से नीचे दबी हुई दूब के ऊपर से जैसे माटी का भारी ढेला हट गया हो। भेड़, बकरे और चूहों को कीड़ों से मार-मार उन पर प्रयोग करने वाले इस नीरस अवचेतन मन के किसी कोने में इतनी पुरानी बात इस तरह उभर आयेगी, कभी सपने में भी नहीं सोचा था! अपने ही मन से उस दिन जैसे नई पहिचान हुई।

पांच-सात दिनों बाद ही नानी का बुलावा आ गया। टालना चाहा। पर मां के कारण, बुलाये आये हुए हजाम के साथ ही जाना पड़ा।

'ब्याह क्यों नहीं करता रे! तुझसे साल भर छोटी मुटुर की बेटी का बेटा दो साल का हो गया। और अब आता क्यों नहीं, जब यह घर सूना था तो आके महीनों रहा करता था। अब तो तेरी तीन-तीन मामियाँ और आ गई हैं।" दुलार से जैसे उलाहना देती हुई नानी ने तीनों मामियों को मेरे पांव धोने को बुलाया। तीनों मामियाँ हल्का सा घूँघट निकाल फूल की थाली में पानी रख मेरे पांव के पास बैठ गयीं, तो बड़े संकोच में पड़ गया।

'अपने से ही पैर धो लूँगा।'

'चुप रह। सबको पैर धोने दे', नानी कहने लगी, 'तू इस घर का बाभन है, बेटी का बेटा। जब तेरे बाप की पूजा है तो तू तो उससे भी बड़ा है। जानता नहीं कि मूल से अधिक सूद की लालच होती है।'

और जब तीनों मामियों ने ठंढे पानी से भरी थाली में मेरा पांव रख कर मल-मल और दबा-दबा कर धो दिया तो चार कोस पैदल आने की सारी थकान न जाने कहाँ चली गयी।

मामियों से पाये सत्कार और स्नेह में मन रम गया। लेबोरेटरी की बदबूदार दवाइयाँ, चूहे, मेढक और शीशे के छोटे-छोटे ट्यूबों में रखे खतरनाक-कीड़े और साँप की फन की तरह उठे हुए, माईक्रोस्कोप जैसे बहुत दूर के हो गये।

लेकिन बाढ़ का पानी उतरने पर नदी के किनारे की धरती घाम लगने से जैसे चिटक कर पपड़ी छोड़ दे, पांच-सात दिनों तक नाना के घर में रमे हुए मन की परतों को भी कुछ ऐसा ही हुआ। अनायास ही एक साँझ को गाटी से लिपा

पुता एक घर याद आया। जी उच्चट गया। नाना नानी और मामियों के रोकते रहने पर भी दूसरे ही दिन गाँव चला आया।

बदन की पीड़ा और ज्वर में दो दिन पड़े रहने के बाद तीसरे दिन होश आया तो देखा, पैताने जमीन पर बैठ, पांव के तलवे में रेवती पकाये आम का लेप लगा रही है।

"वैसाख के घाम में कोई घर से निकलता है। ?"

आँखों से ताक कर ही उत्तर देना चाहता था, कि रसोई घर की सिटकिनी चढ़ाती हुई मां बोली 'यह ऐसा ही है रेवती। अपने साथ-साथ यह दूसरों को भी डाहता है। जब नानी नाना मना कर रहे थे तो क्या पड़ी थी इस लू में निकलने की। इसकी भौजाई तो अपने भाई के ब्याह में चली गई। मैं इसको देखूँ या रसोई पानी करूं। देख रेवती, मैं, घड़ी भर में रामा के घर से पलटती हूँ।'

बाहर से दरवाजा भिड़ाकर मां चली गई। पास में ऊँची दीवट पर जलते हुए दीये के मन्द और मधुर प्रकाश में रेवती को ध्यान से देखा।

'पाँच ही सालों में और अनजानी हो गयी।'

कुछ भी जवाब देते नहीं बना।

'कुछ लिखना पढ़ना सीखने के बाद साध लगती थी कहीं चिट्ठी लिखने की। एक तो पता ठिकाना नहीं मालूम था दूसरे कौन जाने कभी सुध भी आयी हो या नहीं। यही सोच के रह गयी। अच्छा ही हुआ जो नहीं लिखी। नहीं तो चिट्ठी लिख के जवाब पाने की मन में न जाने कब तक आस लगी रहती।'

'क्यों ?' बहुत कोशिश के बाद बोला।

'सूरत देखकर तो सिर खुजलाते रहे। टेढ़ी-मेढ़ी लिखावट की पहिचान कौन कराता।'

लाज से गड़ गया। दीये की हल्की रोशनी में अपने चेहरे पर टिकी हुई रेवती की आँखों की ओर चाहते हुए भी ताक न सका। करवट घूमते हुए बात बदली। 'यहाँ आओ सिर के पास बैठो।'

सिर के पास पीढ़ा रख कर बैठती हुई बोली। 'ब्याह क्यों नहीं करते ?'

सिर से पाँव तक सिहर गया। 'किससे ?'

'ओखर-जाँते, चूल्हे से।' कहती हुई रेवती खिलखिलाकर ऐसे हँसी जैसे बछड़े के गले में पड़ी हुई घंटी टिनटिना पड़ी। हँसी में एक दूसरे से सटे हुये शायद बराबर दाँतों की कतार देख ली, गुड़ लिपटी बासी रोटी पर दस साल पहले

साथ-साथ बैठकर बरोबर चिह्न लगाने की शर्त याद आने लगी। अनायास ही मुँह से निकल गया। 'दूध के दाँत तुम्हारे टूटे नहीं?'

'बेटे बेटियों के बाप होने के बाद मिलना तब पूछना। माथे पर का चिह्न भरेगा कि नहीं, यह तो एक बार भी नहीं सोचा होगा।'

'मेरे सोचने से क्या होगा।'

'तो किसके सोचने से होगा? कुआर लड़की डंड़ार काटेगी। मन पर जोर न पड़े तो दूसरी बात है। लेकिन कांट कूस के ढेर में भी फेंकना तो अपने ही हाथों।'

बात कहाँ से कहाँ पहुँच गई थी। फिर भी मन भरा नहीं था। कहने की जगह सुनते हुये देखना चाहता था। रेवती के मुंह की ओर करवट घूमा तो देखा, सिरहाने के एक पाये पर दोनों हाथों के ऊपर कनपट्टी टेके, जमीन पर बैठी हुई रेवती अपने अंतः क्षितिज में डूबी हुई थी।

'कनियाँ कहती हैं, माँगो तो भगवान से जो घट-घट में प्रान डालता है। पर मेरा मन कहता है कि जो कोई मन में बस कर भगवान को भी न याद करने दे, उसके आगे आंचल पसारने में क्या लाभ। फिर कौन जाने ऐसी घड़ी आये न आये।'

शरीर के रग-रग को रेवती ने झकझोर दिया। प्रत्येक धमनी में जैसे कोई उथल-पुथल मच गई। उस आत्मसमर्पण के आगे मन के असंख्य बुलबुले एक साथ ही फूट गये। एकदम से अघा गया। आगे कुछ भी सुनने को मन नहीं हुआ। चुपचाप आँखें मूंद ली।

'नींद आ रही है?'

'नहीं, ललाट और कनपटी में लगा लेप सूख कर सट जाने से चमड़े में खिन्चाव हो रहा है।

बिजली की सी स्फूर्ति से और शक्ति से उठकर एक लोटा ठंडा पानी ला धीरे-धीरे अंगुलियों से लेप धोती हुई बोली, 'अब बुखार तो नहीं लगता।'

'पर माथे में पीड़ा है।'

'अभी तेल लगा कर दाब देती हूँ।' जैसे छोटे से बच्चे को बोध रही हो। आम का लेप धो, ललाट को आंचल से पोंछ सिर में तेल लगाने बैठ गयी।

इधर आँखें मूंद कल्पना से किसी लोक में खोया था।

'क्यों, सो गया है क्या रेवती?' झपकी टूटी तो देखा कि छोटी बहिना

के साथ माँ चारपाई के पास खड़ी होकर कह रही थी, 'मुझे तो देर हो गई पर रेवती के होने से ढाढ़स था। न जाने उस जन्म में उसकी यह कौन थी। जो इतना तन मन से जुटी रहती है। मेरा बस चलता तो मैं इसको अपने ही पास रख लेती।'

'तुम्हारी ही बेटी है चाची। एक बार मुंह खोलने भर की देर है। बेटी की बेटी का उद्धार करोगी।' बहिना की दीन भीख भरी आँखें जैसे टपकने वाली थीं।

लेकिन उत्तर में माँ की बोली नहीं सुन पड़ी।

चार पाँच दिनों के बाद, एक रात को चौके की दालान में बाबू को भोजन कराती हुई माँ से सुना 'तो उस दिन की मेरी बात का क्या हुआ?'

'कौन सी बात?'

'देखो इधर-उधर भुलवाओ मत, साफ-साफ कहो। ऐसी लड़की घर से मत जाने दो। भरत को देवता जानती है। जब से बीमार पड़ा है, यह पियरा गई है। मुझसे तो इस तरह रात बिरात जगना अब नहीं सपरता। पर इसकी सेवा देख मन को संतोष रहता है।'

'यह मेरे मन से छिपा नहीं है भरत की माँ! लेकिन इतने में ही बूड़ने उतराने से धरम करम कैसे चलेगा। कुछ दुनियादारी भी तो सोचनी है।'

'ऐसी लड़की पाने के लिये लोग आकाश पाताल एक कर देते हैं। और तुम हो जो घर में लक्ष्मी आई है तो दुनियादारी देख रहे हो। इस दुअर लड़की पर तुम्हारा मन नहीं पसीजता।'

बाबू की थाल में दाल डालने को जितनी देर के लिये माँ उठी उतनी देर चुप्पी रही। 'भरत जियेगा तो बहुत कमा लेगा। आदमी से धन दौलत आती है, धन दौलत से आदमी नहीं आता।'

आग पर पड़ी हुई राख की परतों को एक ही फूँक में उड़ा कर माँ जब चुप हो गई तो बाबू की बोली से सीख की गरमाई आने लगी। 'धन दौलत से आदमी तो नहीं मिलता भरत की माँ, पर आदमी की इज्जत जरूर मिलती है। और एक बार जिसकी इज्जत उतर जाती है उसका दुनिया में कौड़ी भर भी मोल नहीं होता।' इस बार बाबू जैसे कराहते हुये कहने लगे, 'बड़की के ब्याह का घाव अभी भरा नहीं है। सरेह घूमते हुये जब कभी तीन बिगहा की ओर चला जाता हूँ, तो खेत देख छाती फटने लगती है। जी होता है कि मन दस मन जाने वाले उस खेत को अपने अंकवार में समेट लूँ। बाप दादों की कमाई का यह खेत बेटी

के ब्याह के लिये रेहन रखना पड़ा। इससे बढ़कर लाज की बात कौन होगी। आज तक गाँव का कोई भी इस घर की थाह नहीं लगा सका। जिस दिन तीन बिगहा के साथ यह बात फूटेगी कि भरत की पढ़ाई के लिये तुम्हारे सात थान गहने बन्धक रखे हैं, उस दिन मुझे इस गाँव में डूबने को चुल्लू भर पानी भी नहीं मिलेगा।'

कुछ देर चुप रहने के बाद माँ बोली, 'पर मैं सोचती थी कि समय बड़ा खराब है। पढ़े लिखे सयाने लड़के को कुछ कहने करने का मौका ही न दिया जाय। आगे जैसा तुम्हारा मन'

जी हुआ कि दोनों कानों में अंगुली ठूँस लूँगा। माँ की अंतिम बातें सुन तन मन दोनों में अपार शिथिलता आ गयी। पूँछ पकड़कर हवा में जोर से नचाये हुये साँप की तरह रग-रग से उखड़ कर पस्त हो गया।

लगभग दो घंटो बाद नींद खुली तो देखा, शीशे की प्याली में दवाई लिये रेवती जगा रही है। लगा जैसे रेवती को आज फिर नये सिरे से देख रहा हूँ। माथे पर की पटरी की निशान पर आँखें अटक गईं। 'आज ऐसे क्यों निहार रहे हो? वैद्य जी मना कर गये थे कि दिन में न सोया करो। तनिक देर को घर गई तो सो गये। कल से कुछ घूमा टहला करो। सोमवार का दिन शुभ होता है, प्याले में से अपने दाँये हाथ की तर्जनी पर दवा मिली हुई मधु उठाकर मुँह के पास चटाने को लाती हुई वह बोली 'बीमार थे तो कुछ बोलते भी थे। जब अच्छे हो चले तो चुप क्यों हो। स्कूल खुलेगा, चले जाओगे। जितने दिन हो उतने दिन तो कुछ हंस बोल लो।'

पहले ही की तरह रेवती की उँगली से चाटते हुये दवा मिली मधु आज बड़ी फीकी लगी। 'क्या बोलूँ रेवती! हमारे पास बोलने को कुछ नहीं है। 'प्याली धो सामने दीवार से पीठ टेक धरती पर बैठ गयी, और बोली, 'क्या कह रहे थे, बात मन में नहीं समाई।'

'यही कह रहा था कि तुम्हारी इस सेवा की निखि कैसे भरूँगा।'

थोड़ी देर चुप हो माथे पर का सरका हुआ पल्ला ठीक करके धीरे-धीरे कुछ सोचती हुई बोली। 'निखि भरने की बात आज मन में कैसे जगी?'

'नये सिरे से पाये हुए हाथ पैर और अपने को देखकर।'

'इस समय उठँग जाओ। बहुत देर से बैठे हो। दुख विपत्ति में यदि लोर पोंछने के लिये खड़े हो जाओगे तो निखि भर जायगी। और मैं भी समझूँगी कि उस जनम में बड़ा धरम किया था।'

लगभग अच्छा हो गया। बाहर टहलने घूमने लगा। तीन-चार दिनों मे रेवती को नहीं देखा तो खाना खाते समय माँ से अचानक पूछ बैठा। धुँआ भरे रसोई घर से निकल आँखें मलती हुई माँ बोली, 'बड़ी ओद लकड़ी है जलती नहीं।' थाली सामने रखती हुई पास में आकर बोली। 'रेवती के बारे में पूछ रहा था न, यह तो बताना ही मैं भूल गई। तेरे नाना के घर के पीछे जो तिवारी का घर है। उन्हीं के तीसरे बेटे से तेरे बाबू ने उसका ब्याह तय करा दिया। कल से उसके ब्याह के सगुन उठ गए। और सगुन उठने के बाद लड़की को घर से नहीं निकलने देते।'

आगे कुछ पूछा भी नहीं, पर माँ अपने से कहने लगी 'ब्याह के बाद विदाई के समय असवारी के नीचे एक बैल भी देने को तय हुआ है।' आगे की इन बातों में क्या रक्खा था लेकिन माँ शायद सोचती होगी, कि इससे मेरे मन को बोध होगा।

'तेरे जाने के सात दिनों पहिले ही ब्याह होगा। अच्छा रहेगा। उसने तुम्हारी बीमारी सम्हाली तू उसका ब्याह सम्भाल देना।' माँ की इन बातों से ही पेट भर गया। एक रोटी और तरकारी माँगी थी। चौके में लेने चली तो उसे मना करते हुये उठ गया।

'इसके मतलब ये हैं कि तू भर पेट खायेगा ही नहीं।'

'नहीं माँ, आज मन थका हुआ है। सरेह में कुछ दूर तक निकल गया था।'

दौड़ के मेरे पास आ मेरा ललाट छूआ। 'अरे! तेरा सिर तो घमस आया है। चल बिछौना बिछा दूँ। ओंठग रह। अभी दूर तक मत जाया कर। रेवती का सगुन गाने जाना था नहीं जाऊँगी।'

'नहीं, नहीं माँ! सगुन गाने जरूर जाना। मुझे कुछ नहीं हुआ है। और वह ताखे पर की किताब उसे दे देना। आधी ही पढ़ के छोड़ गयी है।'

बहुत बार कहने पर माँ बाहर से जंजीर चढ़ाके सगुन गाने चली गयी। घर में अकेले सोने की कोशिश कर रहा था। पर नींद नहीं आ रही थी। धीरे से सीकड़ी खोलने की आहट मिली। तो समझा माँ आ गई। अभी गईं अभी चली भी आईं। सोचा सगुन गाने में मन न लगा होगा। पूछने ही जा रहा था कि ललाट को माँ की जगह किसी नरम-नरम अंगुलियों ने पहिचाने ढंग से छूआ। आँखें खोली तो रेवती को सिर के पास झुकी देख दंग हो गया।

'तुम्हारे तो सगुन उठ गये हैं रेवती। कोई देखेगा तो क्या कहेगा।'

'जब किसी के कहने से कुछ होता तो सबकी आँखें बन्द थी। और जब तुम्हीं ने अपना मुँह सी लिया तो कोई कहके ही क्या करेगा। यह तो ककिया को मामी से बतिआते सुना कि आज फिर से तुम्हारी देह घमस आई है, तो रहा न गया। इसीलिये मन को बोधने चली आई।'

उठ के बैठ गया।

दोनों कन्धे दबाती हुई बोली—'नहीं, नहीं, बैठो मत! ओठंगे रहो। अब मैं जा रही हूँ।'

बगुले की पाँख की तरह सफेद उस धरम की रात में रेवती के हाथों की दो लाल-लाल चूड़ियाँ एक बार चमकी। उसके चले जाने पर उसी तरह बैठा रहा। मन में रेवती की बात गूँजती रही। कराहने की भी जगह रेवती ने नहीं छोड़ी। पाँव पसारने का मन हुआ तो लेट गया। और सामने की एक बड़ी जोन्ही को देखने लगा। जो रह-रह के लाल-पीली और सफेद हो जाती थी। तभी माँ आ गई। 'अभी तक जाग रहा है।'

'नींद नहीं आती माँ!'

सिर हाथ, पैर, पेट सभी कुछ बारी-बारी से दबा कर छूने के बाद चारपाई पर बैठ गईं। दो पल चुप रहने के बाद मेरा मुँह निहारते हुई बोली। 'क्या करूँ मेरा तो कोई भी बस नहीं चलता। नहीं तो तेरा मन न तोड़ती।'

मां ने पके हुये घाव को खोद दिया था।

याद आता है, उस समय बहुत वर्षों के बाद मन हुआ था कि मां की छाती में मुंह छिपा के सिसक पड़ूँ और कहूँ, 'अच्छा तो हुआ मां घर पर छाजन चढ़ने के पहले उसे अच्छी तरह उजाड़ देते हैं।' लेकिन बांध टूटने के पहले ही वह सोने को कह भीतर चली गई।

गांव आने के पहले, पन्द्रह चूहों को एक विशेष दवा खिला उन पर दवा का परिणाम एक महीने बाद देखने के लिये उन्हें प्रयोगशाला के अपने कमरे में रख आया था। रेवती के व्याह के पांच दिन पहले चिट्ठी आई कि सात-सात दिनों के अन्दर में दो चूहे मर गये। जैसे संकट में पड़े हुये मन को चपरासी की चिट्ठी ने उबार दिया। पढ़ाई की बात हर्ज होने को बता मां से दूसरे ही दिन शाम की गाड़ी से गांव से चला आया।

भौजी की भेजी हुई चिट्ठियों से घर का समाचार मिलता रहा। बाकी और कहां क्या हुआ, चाहते हुये भी वर्ष भर तक कुछ भी नहीं जान पाया।

दिन भर सांप के फन जैसे खुर्दबीन में आंखें गड़ा-गड़ा कीड़ों को देखकर कागज पर उनकी सकल बना, फिर उनकी प्लेटें तैयार कर रात को होस्टल के कमरे में टाइप राईटर पर दो घंटे उंगलियां पीट, जब कमर अकड़ जाती तो सो जाता। जब तक काम करता मन अच्छा रहता। खाली समय में मन की सागर की लहरें अपने आप ही कहीं बहने लगतीं। गर्मी की छुट्टियां फिर आईं। अभी बहुत काम बाकी था, और गांव जाने को मन भी नहीं करता था। लेकिन जब बाबू को बैल द्वारा पटक दिये जाने से बायें हाथ के टूटने का समाचार मिला तो लाचार हो गया।

घर आया तो पता चला कि मां दो दिन पहले ही मामा की बेटी के ब्याह में मैके चली गई है।...दूसरे दिन बाबू ने बताया कि दो-चार दिन में रेवती का कलेवा जाने वाला है, कलेवे के साथ कोई जानेवाला नहीं है। मामा के यहां नेवता पर जाना है ही सोचा कलेवा के साथ में चला जाऊँ और लौटते हुये मां को भी लेवाता आऊं।

बाबू के इस आदेश ने मन की बासी परतों को गरम कर दिया। हाँ या ना करने को भी कोई जगह न मिली। झिझक और संकोच भरे मन को कोई उत्सुकता अनायास ही नाना के गांव खींच ले गई।

कलेवा भीतर भेज बड़ी देर तक बाहर मर्दों में बैठा रहा। जलपान करने के बाद भीतर घर में भेंट करने की बुलाहट हुई। आंगन में पहुँच कर देखा कि बने तीन बड़ों के पलड़ों की ओट से कई आखें घूर रही हैं। ठिठक के खड़ा हो गया, तो बरामदे में बैठी हुई बुड्ढी औरत ने कोने के एक घर की ओर उंगली दिखा दी।

माटी के लिपे पुते साफ सुथरे उस घर में सिर्फ दरी बिछी खाट पर बैठते ही रेवती लपककर, लटकते पावों को कस कर पकड़ उनपर अपना ललाट टेक फूट-फूट के रो पड़ी। उस आर्तनाद और विलाप के स्वर को चुप कराने की जगह उसका सिर ऊपर उठाने की कोशिश में केवल रेवती-रेवती ही कहता रह गया। चुप, मौन, विक्षिप्त खोया सा कब तक बैठा रहा, याद नहीं। जी भर रो लेने के बाद अपने ही से चुप हो आंचल से लोर पोंछती हुई जब रेवती दीवाल से पीठ सटाकर बैठ गई तो देखा कि उसके धूल भरे पावों पर गंगा जमुना की कई धारायें निकली हैं। दोनों पलकों की ओर आंखें गईं तो ललाट पर के पटरी के निशान के सिवा सभी कुछ धुल गया है। गड्ढों में धँसी हुई आँखों

के कोने, गालों की उभरी हुई हड्डियां, बिना तेल के रूखे बाल और मुंह के चमड़े पर जगह-जगह स्याह झाँवर धब्बे राख की पर्त की तरह। क्या से क्या हो गया, किससे पूछता।

'ब्याह भर तो रहोगे।'

'हाँ।'

'कब आये?'

'दो-तीन दिन हुये।

'पढ़ाई कब तक पूरी होगी।'

'एक साल में और।'

'मामी से एक दिन भेंट हुई थी, सुना मामा को बैल ने पटक दिया था। हाथ अब कैसा है?'

'अच्छा हो रहा है।'

'ककियाबानी कैसी है?'

'सब अच्छी तरह हैं।

'और तुम बड़ा दूबर लगते हो। पढ़ाई में बहुत मेहनत पड़ती है क्या?'

जवाब देने की जगह रेवती का मुंह निहारता रह गया। कुछ देर चुप्पी रही। केवल उत्तर देने नहीं आया था। पूछना भी चाहिये। यह चेतना मन में आई तो बड़े साहस के साथ बोला। 'और सब?' 'हूँ......! और सब तो देखते ही हो। पेट भर अनाज और तन तोपने भर कपड़ा से अधिक और क्या चाहिये। वह मिल जाता है।' 'बात पूरी कर खड़े मुड़े हुये घुटनों पर कनपटी टेक दूसरी ओर देखने लगी। देर हो गयी थी। इतनी देर में तो ढेर सी बातें हो सकती थी। घर की औरतें न जाने क्या सोचें। चलने को उठ गया। 'अभी मामा के घर तो गया ही नहीं।'

'हाँ। जाओ।' जैसे कहीं लगा हुआ ध्यान टूट गया हो—'जाने के पहले एक बार फिर आ जाना।'

दूसरे दिन कुछ अधिक स्नेह देने वाली अपनी मझली मामी से सुना— 'ऐसी पतोहू दो-चार घरों में नहीं उतरी थी। बेचारी के करम फूट गये जो इस घर में पड़ी। नैहर से असवारी के नीचे बैल नहीं मिला, तो इसमें लड़की का क्या कसूर? दोनों जून तेरह-तेरह, आदमियों की रसोई, पानी, चौका-बासन, घर भर कचाई हैं। ऐसी नेट्टईन सास तो दुशमन को भी न मिले। और एक वह है उसका आदमी। उस घसकट्टे को ऐसी कमलगट्टी मिलनी चाहिये थी।

खाली महतारी की सुनता है। पाँच महीने में तीन बार मार चुका।'

जैसे किसी ने सिर पर हथौड़ा मार दिया हो। भाभी आगे भी कुछ कहती जा रही थी। पर याद नहीं आता। मन ही मन जाने कैसा हो गया। सेमर की फली से छिटक कर हवा में इधर-उधर उड़ी हुई रूई की भाँति भटकने लगा। चैत के ढलते हुये शाम की तरह मनहूस उदासी मन में छाने लगी। नाना के गाँव के एक-एक घर से मन फिर गया। जी हुआ कि जौ गेहूँ के कटे हुये खेत की सूखी खूँटियों से भरे खेतों में नंगे पाँव ही गाँव को चल दूँ।' और उन गड़ने वाले खूँटियों को पांव के नंगे तलुओं से रौंदू। या फिर उन्हीं खेतों में सरपट दौड़ूं तब तक जब तक पांव छिदकर खून से लथपथ न हो जाय। और तब किसी पेड़ की छाया में बैठकर पैर से बहते हुये खून को देखते हुये खूँटियों की चुभन के दर्द में इन सारी बातों को पल भर के लिये भूल जाऊँ।

भाभी के बेटी के ब्याह के बाद के पांच दिन, पाँच बरस लगे। चलने के पहिले रेवती को एक बार फिर से देख आने या दिखा आने का साहस नहीं रहा। छठे दिन प्रातःकाल ३ बजे भोर में माँ को विदा करा बैलगाड़ी से चल पड़ा। गाड़ी लगभग मील भर गाँव के बाहर चली आई। बैलगाड़ी के ऊपर उठे हुये बांस पर मुँह टेके पीछे को छूटती हुई लकीर देख रहा था।

'अभी तो साफ होने में लगभग डेढ़ पहर बाकी है। तब तक सो क्यों नहीं लेता।'

'नींद नहीं आती माँ।' मेरा मुँह निहारती हुई माँ चुप हो गई।

'माँ।'

'हूँ।'

'आने के पहले रेवती से भेंट हुई।'

माँ से कोई जवाब नहीं मिला। घूम कर मेरी ओर देखा भी नहीं। थोड़ी देर बाद कसक से अपने से ही बोली। 'सोचा था, आने की रात उससे भेंट कर आऊँगा। लेकिन तेरी मझली मामी ने बताया कि वह एक रात पहले मुझसे भेंट करने आने वाली थी। न जाने यह बात उसके सास के कान में कैसे पहुँच गई। सांझ ही से उसका आदमी ताक में बैठा हुआ था। अपनी छोटी ननद को ले गलियारे की खिड़कियों से निकलने लगी कि उसके आदमी ने भरपूर लात उसके पीठ पर जमा दी। न जाने उसके पेट के पांच महीने के बच्चे को क्या हुआ ? तभी से बेहोश पड़ी है। भगवान जाने क्या हो। इसलिये नहीं गई।' एक लम्बी साँस छोड़कर माँ चुप हो गयी।

लगभग दस पन्द्रह मिनटों तक कोई नहीं बोला। भोर को चलने वाली मन्द मन्द, शीतल बयार में, रामसरन ने गाड़ी हांकते हुए एकाएक प्रभाती छेड़ दी। धीरे-धीरे तेज़ होने वाली लय में,

'लकड़ी जल कोयला भयी, कोयला जल भयो राख,

... ...

जैसे, सारे शरीर में किसी ने अनगिनत सूईयां एक साथ ही चुभो दीं। उसी तरह बांस पर अपने एक हाथ के ऊपर कनपटी टेककर बैठे हुए, गाड़ी के हिचकोले झेलता रहा। और उस सुनसान अंधियारी रात में, चलते हुए बैलों के गले की घंटियों की टिनटिन और पहियों की चूँ चूँ और चुर्र, चुर्र में रामसरन के प्रभाती के एक-एक शब्द रह-रह के मन को बेधते रहे।

सेब

रघुवीर सहाय

●

चलती सड़क के किनारे एक विशेष प्रकार का जो एकान्त होता है उसमें मैंने एक लड़की को किसी की प्रतीक्षा करते पाया। उसकी आँखें सड़क के पार किसी की गतिविधि को पिकड़वा रही थीं, और आँखों के साथ, कसे हुए ओठों और नुकीली ठुड्डीवाला उसका छोटा सा साँवला चेहरा भी इधर से उधर डोलता था। पहले तो मुझे यह बड़ा मज़ेदार लगा, पर अचानक मुझे उसके हाथ में एक छोटा सा लाल सेब दिखलायी पड़ गया और मैं एकदम रुक् से वहीं खड़ा रह गया।

वह एक टूटी-फूटी पैरम्बुलेटर में सीधी बैठी हुई थी। जैसे कुर्सी में बैठते हैं, और उसके पतले-पतले दोनों हाथ घुटनों पर रक्खे हुए थे। वह कमीज़ पेजामा पहने थी, कुछ ऐसा छरहरा उसका शरीर था और कुछ ऐसी लड़कौंधी उसकी उम्र थी कि मैं सोच में पड़ गया कि यह लड़का है या लड़की। लड़की होती तो उस पर दो पतली-पतली चोटियाँ बहुत खिलतीं: यहाँ वह झबरी थी। पर तुरन्त ही मेरे मन ने मुझे टोका; भला यह भी कोई सोचने की बात है; क्योंकि उस बच्ची में कहीं कोई ऐसा दर्द था जो मुझे फालतू बातें सोचने से रोकता था।

यह बिल्कुल स्वाभाविक ही था कि मैं पास जाकर बड़ी शराफ़त से पूछता 'क्या बात है बेटी, तू इतनी घबरायी हुई क्यों है? तुझे यहाँ कौन छोड़कर चला गया है?' पर वह न उतनी घबरायी हुई थी और न उसे वहाँ कोई छोड़कर चला गया था—क्योंकि उसके चेहरे पर एक गहरी आशा की दृढ़ता थी; यद्यपि वह आशा इसी बात की थी कि उसका बाप अभी आ जायेगा। इसलिए मैंने पूछा नहीं, पर थोड़ा और पास आकर उसे देखता रहा। मुझे डर था कि प्रेम को हाथ लगाते ही वह रो पड़ेगी, लेकिन एक बार मन हुआ कि उसे ज़रा सा और पीछे हटाकर फ़ुटपाथ पर कर दूँ। डीज़ल इंजिन वाली भोंडी बसों की दहशत मेरे दिल में बचपन से बैठी हुई है: पर फिर यह सोचकर रुक गया कि

हालाँकि कोई ड्राइवर कम कुशल होता है कोई ज्यादा, और कोई अपनी बीबी को पीटता है कोई नहीं, पर ऐसा कोई नहीं होगा जो उसे बचाकर नहीं निकल जायेगा।

लड़की ने एक बार मुझे बड़ी घृणा से देखा फिर अपने बाप को देखने लगी। वह सड़क के पार ज़मीन पर कोई चीज़ ढूँढ रहा था। मुझे देखकर वह शायद मन में हँसना चाहती थी कि आप यहाँ खड़े क्यों संवेदना लुटा रहे हैं पर वह बहुत कमज़ोर थी और उसके चेहरे पर भाव एक अजीब लक्षणा के साथ आते थे जैसे कमज़ोर व्यक्तियों के आते हैं, और इसलिए उसका चेहरा और सख्त हो गया। अब सोचता हूँ कि उसने अपना ध्यान तुरन्त मुझ पर से हटा कर खोयी हुई चीज़ के मिल जाने पर लगा दिया होगा।

यह स्वाभाविक ही था कि मैं अपमानित अनुभव करता कि मैं तो—जैसा कि मुझे बचपन से सिखाया गया है दुखीजनों के प्रति आर्द्र होना—उस पर तरस खा रहा हूँ और वह मेरी अनदेखी कर रही है, परन्तु मुझे इसमें कोई अपमान नहीं मालूम हुआ क्योंकि मुझे उसका स्वाभिमान अच्छा लगा। इस बार मैंने ग़ौर किया तो दिखा कि वह बहुत मैले कपड़े पहने थी, कमीज़ के कालर पर मैल की लहरदार धारियाँ थीं मगर चेहरा साफ़ था, जैसे उसका बाप लड़की को मुँह धुला कर बाहर ले गया हो। लगता था जैसे धुल कर उसका मुँह और भी निकल आया है। कमीज़ पर उसने स्वेटर पहन रक्खा था जो चिपक कर बैठता था; पूरी बाँह की कमीज़ थी, कफ़ के बटन बाक़ायदा लगे हुए थे और इस बार मैंने ग़ौर किया तो दिखा कि कलाइयों में बहुत सी नयी काली-सफेद चूड़ियाँ थीं।

मैंने सोचा, संसार में कितना कष्ट है। और मैं कर ही क्या सकता हूँ सिवाय संवेदना देने के। इस ग़रीब की यह लड़की बीमार है, ऊपर से कुछ पैसे, जो अस्पताल की फ़ीस से बचा कर ला रहा होगा—उन्हीं से घर का काम चलेगा—यहाँ गिर गये—किसी गाड़ी से टक्कर खा गया होगा। यह तो कहिए कोई चोट नहीं आयी वरना बीमार लड़की यहाँ लावारिस पड़ी रहती, कोई पूछने भी न आता कि क्या हुआ। मैंने सचमुच उसके बाप को वहीं से आवाज़ दी, 'क्या ढूँढ रहे हो? क्या खो गया है?'

उसने वहीं से जवाब दिया 'इसकी गाड़ी की एक ढिबरी गिर गयी है।'

उसकी खोज ख़तम हो गयी थी। वह बिना ढिबरी के इधर चला आया। उसके साथ मैंने पैरम्बुलेटर के नीचे झाँक कर देखा जहाँ गाड़ी की

बाड़ी और धुरी का जोड़ होता है, जहाँ धुरी हिलगी रहती है वहाँ का एक बोल्ट बिना नट के था।

मैंने सोचा, बस! मगर इसे ही काफ़ी अफसोस की बात होना चाहिये, क्योंकि एक तो गाड़ी वैसे ही ढचरमचर हो रही थी, ऊपर से इस नट के गिर जाने से वह बिल्कुल ठप हो जायेगी। क्या कहावत है वह! 'गरीबी में आटा गीला।' कितना दर्द है इस कहावत में और कितनी सीधी चोट है: आटा ज़रूरत से ज्यादा गीला हो गया और अब दुखिया गृहिणी परात लिए बैठी है: उसे सुखाने को आटा नहीं है। यानी आटा है मगर रोटियाँ नहीं पक सकतीं।

मैंने अपनी तार्किक चतुराई दिखायी; पूछा, 'मगर ढिबरी गिरी कहाँ थी? क्या तुमको ठीक मालूम है यहीं गिरी थी?'

लड़की की मरी-मरी आवाज़ आयी 'गिरी तो यहीं थी, अभी मुझे दिखायी पड़ रही थी, अभी एक मोटर आयी उस से वह छिटक कर उधर चली गयी।"

मोटर के गुदगुदे पहिये से छोटा सा नट छिटक कर कहाँ जाता? पर वह लड़की अपने स्वास्थ्य से दुखी थी, इससे उसका यह ग़लत अनुमान मैंने क्षमा कर दिया और सड़क के पार गया: उसी जगह मैंने भी ढिबरी को खोजा।

जब ख़ाली हाथ मैं लौटकर आया तो बाप ने कहीं से एक छोटा सा तार का टुकड़ा खोज निकाला था और बड़ी दक्षता से बोल्ट को छेद में बैठा कर उसे बाँधने की कोशिश कर रहा था। गाड़ी को उसने ज़रा सा हुमासा तो लड़की जाने क्यों खिसिया गयी, पर जैसा कि मैंने पहले बताया इसके चेहरे पर भाव वैसे नहीं आ सकते थे जैसे तन्दुरुस्त बच्चों के आते हैं, इसलिए उसने जल्दी से अपने बाप का कन्धा पकड़ लिया और नीचे झाँकने लगी जैसे अपनी गाड़ी ठीक करने में मदद देना चाहती हो।

मैंने पूछा, "अब कैसे जाओगे? ऐसे तो यह ठीक न होगी?"

बाप का मुँह दाढ़ी भरा था और जबड़ा चौड़ा था। उसने गाड़ी के नीचे मुँह डाले-डाले खुरदुरी आवाज़ में जवाब दिया, 'चले जायेंगे' और लड़की से कहा "बेटे, तू तनिक उतर तो आ!"

बेटी ने बाप के कन्धे पर एक हाथ रखा, एक से अपने सेब को कस कर पकड़े रही और नीचे उतर कर गाड़ी से कुछ दूर हट कर खड़ी हो गयी। मैं बहुत द्रवित हो उठा, बिचारी बीमार है: इसे शायद सूखा हो गया है: या तपेदिक: इससे कम इसे कोई बीमारी होनी ही नहीं चाहिये, और वह खड़ी भी

नहीं हो पायेगी : काँपती रहेगी । कहीं गिर न पड़े । हे भगवान, जल्दी से बोल्ट में तार बँध जाये ।

मगर लड़की सीधी खड़ी रही । सिर्फ एक बार उसने नाक सिड़की । बीच-बीच अपने नंगे पैरों को देख कर पंजे सिकोड़ती रही और अधीरता से गाड़ी की धुरी को देखती रही : यह तो स्पष्ट ही था कि वह अपने बाप की कारीगरी से बहुत प्रभावित हो उठी है । वह बहुत दुबली थी, छड़ी सी, और सांवली थी; एक नये प्रकार का सौन्दर्य उसमें था, वह जो कष्ट उठाने से आता है । पर फिर मेरे मन ने मुझे फ़ालतू बातें सोचने से रोक दिया ।

मैंने पूछा, 'यह बीमार है ?''

बाप ने लड़की को पुचकारा, "आ बेटे बैठ जा, ठीक हो गयी ।"

धीरे-धीरे चल कर अपने ढीले पैजामे को समेट कर लड़की पैरम्बुलेटर में चढ़ रही थी, तभी मुझे गाड़ी के पेंदे में एक छोटी सी ढिबरी पड़ी दिख गयी; झट उसे उठाकर मैंने बाप को दिया "यह कैसी है, इस से काम नहीं चलेगा ?"

"ओ नहीं जी, ये तो बहुत छोटी है । वो तो मैंने बना लिया जी !"

मैं अपनी करुणा से परेशान था । और—उसे मेरी करुणा की आवश्यकता नहीं मालूम हो रही थी फिर मैंने पूछा, 'इसे क्या हुआ है ?' और उसके दुखी उत्तर के लिए तैयार हो गया । मैंने सोच लिया था कि वह जब कहेगा, 'साहब मर्ज तो कुछ समझ में नहीं आता किसी के', तो मैं डाक्टर दुक्कू का नाम सुझाऊँगा ।

बाप हँस कर बोला, "अब तो ठीक है यह, इसे मोतीझाला हुआ था बहुत दिन हुये तब से कमजोर बहुत हो गयी है । सुइयाँ लगती हैं इसे ।"

गाड़ी चूँ-चूँ करके चलने लगी थी । अब लौंडिया को शरम लगने लगी कि इतनी बड़ी होकर प्रैम में बैठी है ।

"कहाँ रहते हो ?"

"यहीं", सरकण्डा बाज़ार को इंगित किया जो सामने धूप में चमकता दिख रहा था । वह कुछ बहुत दूर भी नहीं था ।

मुझे कुछ न सूझा तो पूछा, "वहाँ से रोज़ यहाँ तक आते हो ? तब तो बड़ी तकलीफ़ उठाते हो ।"

वह हँसा तो नहीं पर कुछ ऐसा मुस्कराया जैसे कह रहा हो कि अपनी

करुणा का श्रेय लेना चाहते हो तो हमारी व्यथा को क्यों अतिरञ्जित कर रहे हो। मैंने यह भी पूछा था, "सुइयों में तो बड़ा खरचा होता होगा।"

वैसे ही उत्तर आया "कोई छब्बीस लगवा चुका हूँ, अभी कोई ख़ास फ़ायदा नहीं है, धीरे-धीरे होगा। ३ रू० ६ आ० की एक लगती है।

अब भी मैं और कुछ पूछना चाहता था क्योंकि मेरा मन कह रहा था कि मैं कुछ कर नहीं सका। मगर मैं यह भी देख रहा था कि उस लड़की की व्यथा कितनी सादी थी, मामूली थी कोई खास बात थी ही नहीं। मैं संवेदना ही दे सकता था तो अधिक से अधिक देना चाहता था, इसलिए मेरे मुँह से निकला "घबराओ नहीं, ठीक हो जायगी लड़की।" अब सोचता हूँ कि बजाय इसके अगर मैं पूछता "आज कौन सा दिन है?" तो कोई फर्क न पड़ता।

बाप ने मानों मुझे सुना ही नहीं। लड़की ने अपने सेब की तरफ देखा, पूछा, 'अप्पा?' बाप ने बड़े प्यार से मना कर दिया।

बीमार लड़की बड़े धैर्य से अपने सेब को पकड़े रही। उसने खाने के लिये जिद नहीं की। चमकती हुई काली-सफेद चूड़ियों से उसकी कलाइयाँ खूब ढँकी हुई थीं। मुट्ठी में वह लाल चिकना छोटा सा सेब था जो उसे बीमार होने के कारण नसीब हो गया था और इस वक्त उसके निढाल शरीर पर खूब खिल रहा था। किसी भी देखने वाले को लगता कि वह उसकी जीवनाशा की भाँति दीप्त और आरक्त है उसकी मुट्ठी दुबली है पर पकड़ मजबूत है।

गाड़ी चूँ-चूँ कर के चलती रही कुछ दूर तक तो मैं उनके साथ-साथ चला फिर अचानक जल्दी-जल्दी चलकर आगे निकल आया। मैं वहाँ बिल्कुल फ़ालतू था।

●

फुलबसिया

कमल जोशी

●

हँसी खुशी राह चलते-चलते पैर में मानों अचानक काँटा चुभ गया। एकाएक खटका हुआ। फुलबसिया के मन में। शरीर में बिच्छू के डंक मारने जैसी जलन हो रही है, आतंक से !

...नहीं, नहीं। भला ऐसा क्यों होने लगा।

स्वयं को वह दिलासा देना चाहती है। लेकिन तो भी मन नहीं मानता। खयाल आते ही खून ठंडा हो जाता है। हृदय का आतंक सारे शरीर में फैल जाता है। वह बेचैन होती है। वह भूलने की जितनी चेष्टा करती है, यह सर्वग्रासी चिन्ता उसे उतना ही जकड़ लेती है। क्षण भर के लिए भी उसे छुटकारा नहीं मिलता।

ऐसी मानसिक अवस्था में क्या काम किया जा सकता है। रहने दो, आज वह काम पर नहीं जायगी। कोठरी के एक कोने में सिगरेट के दो टुकड़े पड़े हैं, धूल में सने हुए। जाने कब के हैं। शायद रोज़ ही देखती है। आज नजर पड़ते ही जलभुन गयी। उन्हें पैरों से कुचलते हुए ठोकर मारकर बाहर फेंक देने पर भी क्या शान्ति है !

अपना आँचल ठीक करते हुए वह बाँस की चटाई पर जा बैठी। उन दोनों ने मिलकर यह चटाई बनायी थी। वह और केजूआ। केजूआ ने ही उसे सिखाया था। फुलबसिया तो सिर्फ खजूर के पत्तों की चटाई बनाना जानती थी। केजूआ ने कहा—'वह चटाई कम चलती है, ठंड भी उसमें ज्यादा लगती है।' फुलबसिया ने आँखें नचाते हुए शरारत से जवाब दिया था—'तुम उस पर सोना, मैं तो बाँस की चटाई पर ही सोऊँगी—तुम्हारी वह चटाई मेरे बदन में चुभती है।'

कहकर हंस पड़ी।

'—धत्'

केजूआ को यह प्रस्ताव पसन्द नहीं। हंसी-मजाक वह जरा देर में समझता है। और कई बार तो समझता ही नहीं।

—'अच्छा रे, मुंह मत फुला। तेरी बात ही सही। जरा-जरा सी बात पर तेरा यह मुंह फुलाना मुझे अच्छा नहीं लगता। हम दोनों के एक साथ सोने लायक बड़ी चटाई बनानी होगी।'

इतनी देर बाद केजूआ के मुंह पर हंसी की रेखा नजर आयी।

बहुत उत्साह के साथ वह अपनी बहू को बाँस की चटाई बनाना सिखाने बैठा। दिखाने के लिए जरूर कहता है कि दो जनों के सोने लायक चटाई होगी। लेकिन दो दिलों के अव्यक्त सहयोग से कुछ और ज्यादा ही बड़ी बुनी गयी थी। सन्तान की उनकी आकांक्षा है।

यह सब भला कितने दिनों की बात होगी। आज से शायद दो-तीन बरस पहले की।......

इसके एक वर्ष बाद ही तो दाढ़ीवाले कंट्राक्टर के बिलासपुरी कुलियों के साथ केजूआ भी चला गया। वही जो नदी पर पुल बनाने के समय यहाँ आया था। केजूआ की ईमानदारी और सरलता से खुश होकर कंट्राक्टर ने उसे स्टोर का पहरेदार बना दिया था। फिर, यहाँ का काम खत्म होने पर उसने केजूआ से अपने साथ चलने को कहा। फुलबसिया को छोड़कर जाने की उसकी इच्छा नहीं थी। लेकिन तो भी वह राजी हो गया था। यहाँ रोजगार बहुत कम है। जो थोड़ी-बहुत कमाई होती है, उससे गुजारा नहीं होता। राजमिस्त्रियों के इस मुहल्ले के सब ही युवक अपनी किशोरावस्था में मिस्त्रियों के साथ शुरू-शुरू में मजदूर का काम करते हैं। फिर, धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं और एक दिन कूची और करनी लिए हुए पक्के राजमिस्त्री बन जाते हैं।

लेकिन केजूआ से यह नहीं हुआ। तेज और चालाक आदमी वह नहीं है। उसका हाथ जैसे चलता ही नहीं। उसके हाथ की सूक्ष्म कारीगरी की दौड़ चटाई बुनने तक ही है। फुलबसिया की क्या यह इच्छा नहीं होती थी कि उसका पति भी बड़ा राजमिस्त्री बने। पूरी मजदूरी के अलावा अपने मातहत काम करने वालों में से हरेक से वह दस्तूरी पाये। मुहल्ले भर के सब लोग उसे मिस्त्री की बहू कहकर पुकारें? बाँस की चटाई के बदले आम की [illegible] कौन नहीं चाहता? इसीलिए जब केजूआ ने रोजगार के लिए परदेश जाना चाहा तो उसने विशेष आपत्ति नहीं की।

'समझी फुलबसिया, रुपये की गर्मी के कारण मंगलू मिस्त्री बहुत लंबी-चौड़ी बातें करता है। देखना, मैं भी कम से कम सौ-दो सौ रूपये जमाकर लौटूंगा। तब तक तू अपना खर्च किसी तरह चला लेना—अकेली तू ही तो है।'

वह अकेली ही तो है। केजूआ ने बिना कुछ सोचे-समझे ही कह दिया। लेकिन फुलबसिया की दृष्टि में कुछ अन्य ही भाव था। अपराधी की तरह उसने अपनी आँखें नीची कर ली थीं। बहुत तेज या चालाक न होने पर भी यह बात केजूआ की नजरों से छिपी नहीं रही। उसने पत्नी को बहलाया—'बाल-बच्चा होना तो भगवान के हाथ में है। तुझे डर तो नहीं लगेगा री, मेरे जाने के बाद?'

'इस मुहल्ले में डर किस बात का है? क्या शेर खा जायगा?'

'रात को अगर डर लगे तो चाची के पास सोना, क्यों री?'

'तेरी चाची मुझे शेर के हाथ से बचा देगी?'

फुलबसिया हँस पड़ी थी। अपनी चचिया सास से उसकी जरा भी नहीं बनती। वह बुढ़िया भी अकेली ही रहती है। आँखों में मोतियाबिंद है। इसलिए आजकल सिर्फ एक जगह बैठे-बैठे ईंट तोड़ने का काम कर पाती है। बिना किसी को साथ लिए वह काम करने की जगह पर पहुँच भी नहीं पाती। रात को अगर किसी कारण डर लगे तो वह बुड्ढी क्या मदद कर सकती है? इसीलिए फूलबसिया हँस पड़ी थी।

'अरे, डर के वक्त अगर कोई भी पास हो तो कुछ साहस आ ही जाता है।'

'अपनी इस कोठरी में इस चटाई पर सोये बिना मुझे नींद नहीं आती।'

फिर भी, केजूआ शायद आश्वस्त नहीं हो पाता।

'न हो तो फिर चाची से ही कहना, वह ही तेरे पास यहाँ आकर सो रहेगी।'

'हूँ, अपनी इस चटाई पर मैं किसी और को सोने दूँगी।'

जिस दिन केजूआ जा रहा था, उस दिन फूलबसिया की यह बात उसे बहुत अच्छी लगी थी। अच्छी लगेगी, इसलिए तो कही थी। इतनी मिठास से अपने मन की बात इस युवती के अलावा क्या और कोई कह सकता है। छोड़कर जाने को जी नहीं चाहता। तो भी केजूआ को चला जाना पड़ा, हाथ में एक लाठी और कंधे पर छोटी सी गठरी लादकर। अपना जी कड़ा किये बिना कहीं मरद का काम चल सकता है। यहाँ दोनों प्राणियों की कमाई आँख से नजर भी नहीं आती।

'दुखी मत होओ। हाँ, होशियारी से रहना। कंट्राक्टर ने जैसा बताया है, उसमें सौ-दो सौ रुपया जमा करने में भला कितने दिन लगेंगे। गया और आया। हाँ, होशियारी से रहना!...'

...होशियारी से रहना!...

दो वर्ष पहले जाने के समय कहे गये ये शब्द आज फूलबसिया के मन में काँटे की तरह चुभ रहे हैं। चटाई बुनने की गाठें मानों आज इतने दिनों बाद उसके शरीर में फूट रही हैं।

...अभी भी सिर्फ सन्देह है! तो भी—तो भी—हे भगवान! ऐसा न हो!

अपनी कोठरी में बैठकर वह सारी बातें अच्छी तरह सोचेगी, लेकिन इसका भी मौका नहीं मिलता। चचिया सास बराबर पुकारे जा रही है।

'बहू! ओ बहू! कहाँ घुसी बैठी है! अरी, बोलती क्यों नहीं! देर हो रही है।'

अन्यमनस्कता के कारण फूलबसिया ने बुढ़िया की लाठी की आवाज़ नहीं सुनी। अन्त में बोलना ही पड़ा।

'ये रही चाची। आज तबियत ठीक नहीं है।'

'तबियत ठीक नहीं है? आज काम पर नहीं चलेगी?'

'नहीं।'

'तो तूने पहले क्यों नहीं कहा? अब मैं किसके साथ जाऊँ।'

उसके पैसे मारे जायेंगे। इसी कारण बुढ़िया की आवाज़ में रोष और तेजी थी। इस वक्त फूलबसिया अपनी ही मुसीबत में फँसी हुई है। जल रही है।

और ऐसे वक्त ऊपर से बुढ़िया उसे परेशान करने आ पहुँची है।

'मेरी तबियत खराब है, क्या सारे मुहल्ले में मैं इस का ढिंढोरा पीटूँ!'

बात-बात में ही बात बढ़ जाती है। आँखों से कम दीखने के कारण बुढ़िया की जबान और भी तेज़ हो गयी है।

'मैं मुहल्ला हूँ। मैं पराई हूँ। आज अगर यहाँ कलुआ होता तो तू क्या ऐसी उल्टी-सीधी बात कह सकती थी?...तेरी तरह मैं बाँझ नहीं हूँ। दो बच्चों को जन्म दिया था। अगर आज वे जिन्दा होते तो मुझे किस बात की कमी थी। काम न करती तो भी खाने-पीने की कोई कमी न होती।'

बहुत देर तक बक झक कर, आँसू बहा और बड़बड़ाते हुए चचिया सास अपने घर चली गयी। वहाँ भी अपने मृत लड़कों को उद्देश्य कर वह जो बक-बक कर रही थी, वह सुनाई पड़ता था।

लड़का...लड़का...लड़का...

बुढ़िया की यह बकवास और कोसना आज फूलबसिया को बुरा नहीं लग रहा था। बाँझ शब्द में भी आज उसे भरोसा और सुख मिल रहा था।

...ऐसा ही हो...हे भगवान!...बुढ़िया का यह कोसना ही मानो सत्य हो।...

बुढ़िया की गाली-गलौज ने अब दूसरा रुख पकड़ा।

'...अब इतनी देर हो गयी है कि मुहल्ले में कोई बैठा थोड़े ही है जो मुझे ले जायगा। सब लोग चले गये। काम नहीं करेंगे तो खायेंगे क्या। मंगलू मिस्त्री तो जैसे तेरे हाथ में है। बँधा काम है—देर से पहुँच या जल्दी, तुझे तो काम मिल ही जायगा।'

इस मिस्त्री का नाम सुनते ही जैसे सौ बिच्छुओं ने उसे एक साथ डंक मारा। बदन में आग लग गयी! जिस नाम को आज वह भूल जाना चाहती है, उसे भूलने के शायद अब कोई उपाय नहीं है! यही तो उसे डर है। अगर ऐसा ही हुआ। सिर्फ, यह चचिया सास ही क्यों, सारी दुनिया के आदमी बार-बार और जोर-जोर से उसके सामने वह नाम लेंगे।...नहीं, नहीं, नहीं, भला ऐसा क्यों होने लगा!...व्यर्थ ही वह इतना सोच रही है। लेकिन इस डर और मुसीबत में बार-बार के जूआ की याद क्यों आ रही है? और, दोनों की मिलकर बनायी हुई चटाई—ढाई व्यक्तियों के लिए बनायी हुई चटाई की बात!...

'फुलबसिया! ओ फुलबसिया! यह तेरा क्या हाल है! मिस्त्रियों के आने से पहले ही मजदूरनियाँ मसाला तैयार करके रखेंगी, तभी तो काम ठीक से होगा!'

फुलबसिया चौंक उठी। सबसे ज्यादा अवांछनीय मनुष्य की आवाज़!... उसका नाम लेकर पुकारने का अधिकार उसे किसने दिया? क्यों-केजूआ की बहू के नाम से उसे नहीं पुकार सकता?...

मंगलू मिस्त्री की आवाज़ सुनकर बगलवाले घर से चचिया सास ने जवाब दिया—'केजूआ की बहू की तबियत खराब है। वह आज काम पर नहीं जायगी।'

'पहले से मुझे खबर क्यों नहीं दी? अब इतनी देर से यह कहने पर कैसे होगा?'

मंगलू मिस्त्री के हाव-भाव और तौर-तरीके बुढ़िया को भी पसन्द नहीं हैं। माना कि वह ठीक से देख नहीं पाती। लेकिन नाक और कान में तो रुई नहीं भर रखी है। अब भी उसको सिगरेट के धुएँ की गंध नाक में आ रही है, साथ ही साथ आमला तैल की गंध भी। आँवले का तैल लगाये बिना वह धूप में काम नहीं कर सकता। बीड़ी पीने पर उसके गले में खारिश होती है। ऐसे आदमी से जरा संभलकर ही बातें करनी पड़ती हैं। इसकी वजह से ही केजूआ की बहू को रोज काम मिल जाता है, साथ-साथ उसे भी। मंगलू मिस्त्री ही यदि उसे आज काम पर ले जाय! एक बार कह कर देखे क्या ?...

उठते ही उसके कानों में फूलबसिया की गुस्से से भरी हुई तेज आवाज़ सुनाई दी—'पैसे की गर्मी दिखाने आया है। अपने घर में दिखाना। मैं क्या किसी की नौकर हूँ या महीना पाती हूँ, जो कोई उठने को कहेगा तो उठूँगी और बैठने के लिए कहेगा तो बैठूंगी। मेरे ही दरवाजे पर खड़ा होकर मुझ पर रौब जमाता है ?'...

इस रौद्र-रूप का सामना करने के लिए मंगलू मिस्त्री तैयार न था। वह फौरन ही नरम पड़ गया।

'नहीं' नहीं। ये बात नहीं। आज कल दिन छोटे हैं न! जो बाबू पैसा देकर काम कराता है, वह तो मंगलू मिस्त्री को ही बुरा-भला कहेगा न ?'

'जिसकी जो इच्छा हो वह मिस्त्री से कहे।'

इस अर्थहीन बात का मतलब समझने की चेष्टा करते-करते मंगलू मिस्त्री वहाँ से चल दिया। ये बातें सुनकर बुढ़िया का उससे कुछ कहने का साहस नहीं हुआ।

दरवाज़ा भेड़ कर फूलबसिया फिर उस बांस की चटाई पर आकर लेट गयी। इतने सोच विचार के बाद भी उसे रोशनी नजर नहीं आती। ..अगर ऐसा ही हुआ!...तो फिर क्या होगा!...इतनी विकट समस्या उसके जीवन में कभी नहीं आयी थी। बीमारी की वजह से काम पर न जाने से मुसीबत होती है। लेकिन उस समय भी पास-पड़ौसी सांत्वना देते हैं। लेकिन इसमें ?...वह कांप गयी। परिणाम की कल्पना भी बड़ी भयावह है।...नहीं, नहीं, वह व्यर्थ ही मुसीबत की बात सोचकर अपना दिल छोटा कर रही है।...

आंगन में वह बेल है। इसकी शाखा-प्रशाखाओं ने घर की छत तक को ढक दिया है। जिस घर में यह बेल होती है, वह सदा हरा-भरा रहता है। खूब

फलता-फूलता है। कुछ साल पहले केजूआ ने यह लतर लगायी था। केजूआ से इसके लिए कहना नहीं पड़ा था। लड़के के लिए वह मरता है। स्वयं फूल-बसिया की इच्छा क्या कम है? देवी-देवताओं को खुश करने के लिए उसने क्या नहीं किया।...किससे क्या हो जाय, कौन जाने।

...पहले दिन जब मंगलू मिस्त्री ने नाम लेकर उसे पुकारा था, तब उस दिन ही यदि वह डाँट देती, 'मुझे फलां मरद की बहू कह कर नहीं पुकार सकते!'—तो क्या आज ऐसा होता! पर उसे वह मौका ही कहाँ मिला? मिस्त्री ने बातें ही दूसरे ढंग से शुरू की थीं। उस समय सीढ़ी पर चढ़े हुए वह काम कर रहा था। आधी पीयी हुई सिगरेट फुलबसिया को देकर, मुँह से धुआँ निकालते हुए बोला—'मेरे माँ-बाप ने भी मेरा क्या नाम रखा! मंगलू! और कोई नाम ही उन्हें नहीं मिला। लेकिन तेरे माँ-बाप ने तेरा बहुत सुन्दर नाम रखा।'

'फुलबसिया—यह कौन अच्छा नाम है? बासी फूल! यह भी कोई नाम है!'

'अरी पगली, बासी फूल नहीं री। फूलों में तेरा बास है। इसलिए तेरा नाम है फुलबसिया।'

एक अकारण खुशी से फुलबसिया का मन भर गया। उस दिन की वह एक बात भी नहीं भूली है। उस समय ही यदि वह गम्भीर हो जाती!... जाते-जाते केजूआ उससे होशियारी से रहने के लिए कह गया था।...उन दोनों ने मिलकर ढाई व्यक्तियों के लिए चटाई बुनी थी।...

कल सारी रात नींद नहीं आयी। जाने कब आँखें झप गयी थीं। पता नहीं कितनी देर। एकाएक किसी की आवाज़ सुनकर चट से उठ बैठी।

'बहू! ओ बहू! यह देख डाकिया साब आये हैं। तेरी चिट्ठी आयी है। केजूआ की बहू का घर खोजते-खोजते मेरे यहाँ पहले पहुँचा था।'

दरवाज़ा खोलकर फुलबसिया बाहर निकली।

'चिट्ठी! मेरे नाम की!'

वह काँप गयी। काँपने की बात ही है। इस मुहल्ले में डाकिया साहब छठे-छमाहे आते हैं।...निश्चय ही केजूआ की जरूर कोई न कोई बुरी खबर होगी!...नहीं तो आज ही चिट्ठी क्यों आती?...

डाकिया आंगन में लगी हुई घीया की बेल देखकर चकित रह गया।

'वाह! बहुत बड़ी-बड़ी घीया लगी हैं। कैसी कच्ची-कच्ची हैं।'

बुढ़िया से चुप नहीं रहा जाता । फौरन बोली, 'हाँ, घीया तो हर साल खूब फैलती है । लेकिन इस कलजुग में—पोथी-पत्रा का लिखा हुआ कहाँ फलता है ।

मुंशीजी से चिट्ठी पढ़वाने जायगी तो शाम हो जायगी । इसलिए डाकिया साब से चिट्ठी पढ़ने के लिए बुढ़िया ने कहा । बदले में उन्हें एक घीया दे देगी ।

अपने सरदार से केजूआ ने चिट्ठी लिखायी है । उसने बहुत साफ-साफ हरफों में लिखी है । डाकिये ने पढ़ना शुरू किया—

'—केजूआ की बहू

साठ सौ रुपया किसी भी तरह जमा नहीं हुआ । यहाँ कैसे रहता हूँ । सरदार ने एक कोठरी दे दी है । अभी अगहन है । होली के वक्त तुझे ले आऊँगा । अब बाँस की चटाई पर तेरा सोना नहीं होगा । यहाँ जमीन पर टाट बिछाकर सोते हैं । इतने दिनों बाद कहीं जाकर मुझे कोठरी मिली है । ईंट खुल जाने पर मुन्शी जी से चिट्ठी लिखवा देना । तब तो उसके लिए दो-चार कपड़े भी ले जाने होंगे ।'

अच्छी खबर नहीं है । केजूआ तीन महीने बाद आ रहा है । फूलबसिया का मुँह उतर गया । जिस चटाई की याद उसे आज बार-बार आ रही है, उसके ही बारे में केजूआ ने अपनी चिट्ठी में कैसे लिख दिया ?

चिट्ठी सुनकर अपने भविष्य के बारे में सोचते हुए सिर पर हाथ रखकर चचिया साम बैठ गयी—'बहू तुम लोगों के चले जाने पर मेरा क्या होगा !'

यह बात सुनने लायक फूलबसिया के मन की हालत अभी नहीं है । डाकिया एक की जगह, दो घीया लेकर चला गया । लेकिन इस ओर भी उसका कोई ध्यान नहीं । सारी भावना, ध्यान और चिन्ता जाकर उलझ गयी है, चिट्ठी में लिखी हुई ईंट खोलने की बात पर ।

ईंट खोलने की बात केजूआ ने लिखी है । इसका मतलब है कि उसके चले आने के बाद फूलबसिया के लड़का हुआ है या नहीं ।...शहर जाने के रास्ते में 'सती का चौतरा' है न ? तत्काल फल देने वाला । किसी जमाने में वहाँ कोई सती पति की चिता में कूद पड़ी थी । तैल-सिंदुर लगी हुई वेदी के ऊपर लंबे बांस पर एक लाल तिकोना निशान बना हुआ है । इतना ऊँचा कि पास के बूढ़े बट-वृक्ष से आगे बढ़ गया है । वह निशान बहुत दूर से दिखाई देता है । बटवृक्ष भी कम पुराना नहीं है ? पेड़ से लटकती हुई शाखाएँ इतनी मोटी हैं

कि दोनों बाहुओं में भरने पर भी नहीं आतीं। बटवृक्ष के सामने ही एक आधा कच्चा-पक्का कमरा बना हुआ है। जिन साधु महात्मा ने आज से दस वर्ष पहले इस बटवृक्ष की छाया में आश्रय लिया था, वे आजकल उस कमरे में रहते हैं। साधु महात्मा बड़े व्यावहारिक हैं। आस-पास उनकी अच्छी धाक है। उनके भक्तों की कृपा से पूजा-चढ़ावा आता ही रहता है। पूजा करनेवालियों के आराम और सुविधा के लिए ही एक बड़ा कमरा और बन रहा है। वैसे बाँस का एक घेरा तो बारहों महीने बँधा रहता है। अपनी-अपनी सुविधानुसार, बीच-बीच में मिस्त्री आते हैं और घंटे-दो घंटे काम कर जाते हैं। सती देवी का काम जो ठहरा। कमरा तो उनकी भक्तिनों के लिए ही बन रहा है न! बटवृक्ष के पास जाने पर नजर आता है कि जड़ की कोटरों में, शाखा-प्रशाखाओं में, संभव-असंभव सब जगह ही असंख्य ईंटें बँधी हुई हैं। अलग-अलग बँधी रहने पर भी ऐसा लगता है जैसे तरतीब से सजायी गयी हैं। यहाँ की ईंट खोलने की बात ही केजूआ ने अपनी चिट्ठी में लिखी है। जो औरतें सन्तान चाहती हैं, वे ही यहाँ ईंट बाँध जाती हैं। मनोकामना पूर्ण होने के बाद सती के चौतरे की पूजा करने से पहले ईंट खोलकर नीचे रख देती हैं। नीचे रखी हुई ईंटों से ही साधु महाराज का यह कमरा बना है।

बाँधने के बाद कई महीने तक उस ईंट के पीछे कितनी आशा-आकांक्षा और भक्ति थी। फिर असफल और अप्रयोजनीय समझकर इस ईंट को वह भूल गयी थी। आज केजूआ की चिट्ठी ने फिर याद दिला दी।

उसकी भी क्या मति मारी गयी थी जो सती के चौतरे पर ईंट बाँधने पहुँची थी? उसने क्यों छठ पर्व के दिन कद्दू का साग खाया था? क्यों नहीं उसने अपने आंगन में लगे हुए पेड़ को उखाड़ फेंका?

क्यों?......क्यों?......क्यों?

पहले किया हुआ हर काम, बीती हुई प्रत्येक घटना और सोच विचार अदृश्य रूप से उसे बाँध रहा था! इतने दिनों से नहीं समझी थी! पेड़-पौधे, फल-फूल, लता-पत्ते, ईंट-पत्थर, देवी-देवता—सब उसके विरुद्ध हैं! यहाँ के अणु-परमाणु ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र में साथ दिया है। नहीं तो आज के दिन ही केजूआ की चिट्ठी क्यों आती? केजूआ की चिट्ठी में चढ़ाई की बात ही क्यों होती? भगवान के रुष्ट होने पर ऐसा ही होता है! चारों ओर अंधकार! इस बन्द गली से बाहर निकलने का कोई उपाय नहीं!...अब क्या होगा!...

...पछिया सास मानों कुछ कह रही है!...

एकाएक !...एकाएक अँधेरे में फुलबसिया को प्रकाश की रेखा नजर आयी। एकमात्र उपाय !...पथ का सन्धान ! इस मुसीबत के समय भगवान ने रास्ता दिखाया है—इस चिट्ठी के द्वारा। इसीलिए चिट्ठी आयी है।...

फुलबसिया उठी और धोया की मचान से एक लम्बा-सा बाँस लेने गयी। बाँस निकालते ही पुरानी मचान चूं-चूं चरमर करती हुई टूट गयी।

चूं-चूं-चरमर ! टूटती है तो टूटने दो।

'बहू, यह क्या हुआ ? क्या टूटा ?'

मचान का बाँस काफी लम्बा था। मजबूत चीज है। और भी लंबा होता तो ज्यादा अच्छा था। इससे होगा। काम चल जायगा।...

सिर पर बाँस रखकर पागलों की तरह फुलबसिया बाहर आयी।

'ओ बहू ! कहाँ जा रही है ?'

वह बहुत तेजी से जा रही है। प्रायः दौड़ती हुई। इस समय उसके लिए प्रत्येक क्षण का मूल्य है। एक कोस दूर पर सती का चौतरा ऐसा लगता है जैसे बहुत दूर हो।...सती का चौतरा इतनी दूर क्यों हुआ ?...पहुँचने में देर लगेगी। इतनी ऊँचाई पर ! कोई बात नहीं, ईंट तक वह किसी न किसी तरह पहुँच ही जायगी। इतना लंबा बाँस लायी है ?...उसने बहुत ऊँचाई पर ईंट बाँधी थी। सीढ़ी पर चढ़कर। साधू बाबा के यहाँ उस समय मिस्त्रियों का काम हो रहा था। वहीं से केजूआ सीढ़ी उठा लाया था और पेड़ के सहारे लगा दी थी। कहा था, सबसे ऊँची डाल में बाँधना। यदि कोई गलती से उसकी ईंट खोल दे। इसी कारण वे दोनों इतने सावधान थे। औरत को सीढ़ी पर इतना ऊपर चढ़ते देख साधु बाबा चिल्लाये भी थे। सीढ़ी पर चढ़ते-चढ़ते ही फुलबसिया ने जवाब दिया था, मिस्त्री की बेटियाँ सीढ़ी चढ़ना जानती हैं—हाँ, सती के पेड़ में बस पैर नहीं लगना चाहिये। साधु बाबा यह टका-सा जवाब सुनकर चुप हो गये।

...अपनी ईंट देखते ही वह पहचान लेगी। काफी बड़ी ईंट है—एक ओर उसमें खास निशान बना हुआ है। वह अपने आँगन की ईंट बाँधना चाहती थी। केजूआ यह सुनते ही आग-बबूला हो गया—'जिन ईंटों पर हम रोज पैर रखकर चलते हैं, वही ईंट तू सती के पेड़ में बाँधेगी ! औरतों को जरा भी अक्ल नहीं होती !' फिर, केजूआ ही जमींदार के यहाँ से एक नयी ईंट ले आया था।...जहाँ ईंट बाँधी थी, वह जगह उसे अच्छी तरह याद है। वहाँ एक नयी शाख निकल आयी है। दो-ढाई साल में ही शाखा ने ईंट को

संपूर्णतः ढक दिया होगा। यदि बाँस के धक्के से न गिरे ! यदि काटकर बाहर निकालनी पड़े ! तो फिर कुल्हाड़ी कहाँ है ? सीढ़ी ही कहाँ मिलेगी ? जरूरत तो अभी है ! शायद सती माई का आशीर्वाद उसे अभी तक नहीं मिला है ! उस आशीर्वाद के मिलने के पहले ही वह ईंट उतार लेना चाहती है। उसके लिए मुसीबत से बचने का एकमात्र पथ ! इसलिए समय रहते हुए वह अपनी ईंट खोल लेगी। ..

...साधु महाराज का कमरा यहाँ से साफ नजर आता है। सन्तानवती स्त्रियों की सफल कामना का वह प्रतीक है। वहाँ की हर ईंट में सती माई के प्रति उनकी कृतज्ञता मिली हुई है। उनके आशीर्वाद प्राप्त ईंटों से यह कमरा बना है। इसलिए उस ओर देखने में भय होता है। कमरे की हर ईंट उसकी दुश्मन है। डरावनी हैं। सिंदुर लगी हुई वेदी लाल आँखें कर उसे डाँट रही है। लाल रंग का तिकोना निशान भी।...सती का चौतरा इतना जाग्रत है, इस कारण और भी ज्यादा डर है !...सती माई उससे नाराज हो जायँ, तभी वह बच सकती है।

अब पेड़ में बंधी हुई ईंटें स्पष्ट दिखाई दे रही हैं। उनमें से एक के भी पीछे क्या किसी बंध्या के दिल का दर्द छिपा हुआ नहीं है ?...अन्य स्त्रियाँ ईंट खोलती हैं, सफलता के गर्व से। लेकिन वह ?......

...मुझसे नाराज़ होकर मेरा ईंट बाँधना विफल कर दो सती माई।...

पेड़ के नीचे पहुँचकर फुलबसिया ने बाँस नीचे रखा।

लेकिन कहाँ ? उसकी वह ईंट कहाँ है ? नहीं है ! किसी ने जैसे खोल दी है। वहाँ थोड़ी सी डाल काटी भी गयी है। रस निकल रहा है ! सिर्फ उसकी ही नहीं—पुरानी बंधी हुई ईंटों में से एक भी नहीं है। पेड़ के शरीर पर अनेक जगह ताजे घाव के चिन्ह हैं। पुरानी ईंटों का रंग फीका पड़ जाता है। वह क्या यह नहीं जानती ? अब जो ईंटे पेड़ पर हैं, वे सब नयी-नयी जैसी लगती हैं। एक वर्षा भी उनके ऊपर से नहीं गुजरी है। ये सब कुछ दिनों पहले ही बाँधी गयी हैं।

यह क्या हुआ। उसकी रक्षा का एकमात्र पथ बन्द कर ईंट किसने उतारी ? किसने उसके साथ यह दुश्मनी की ?

'ओ साधु महाराज ! मेरी ईंट किसने खोल ली ?'

साधु बाबा के मुख पर अपराधी जैसा भाव है। बंध्या नारियों की अभिशाप युक्त बहुत दिनों पहले बाँधी हुई ईंटें सती के चौतरे की ख्याति में बाधक

हैं। उन ईंटों को देखते ही लोगों को यह समझते देर नहीं लगती कि इन सब क्षेत्रों में सती माई का माहात्म्य कारगुजार नहीं हुआ। इसीलिए, सती माई का प्रताप और महत्ता बनाये रखने के लिए साधु बाबा बीच-बीच में पुरानी ईंटें रात को उतरवा लेते हैं,—विशेषतः जब नया दालान या कमरा बनवाना होता है तब। कल रात को ही तो उन्होंने सबसे ऊंची डाल की ईंट खुलवायी थी। लेकिन यह बात इसे तो नहीं बतायी जा सकती। अपने मुख पर हँसी का भाव लाते हुए उन्होंने कहा, 'अरी बुद्दू! तू अब ईंट खोलने आयी है। लेकिन सती माई से कुछ छिपा नहीं रहता। ज्योंही उन्होंने देखा कि तेरी मनोकामना पूर्ण हो गयी है, त्योंही सती माई ने किसी दूसरे के हाथ से ईंट खुलवा दी। उन्हें सब खबर मिल जाती है। तो, तू रो-रोकर अपनी जान क्यों दे रही है? तेरी इच्छा पूर्ण हुई—यह तो होता नहीं कि देवी की पूजा करे, उल्टे रोने बैठ गयी। हाँ, तेल-सिन्दुर और पान-सुपाड़ी लायी है न? बताशे भी हैं या मुझसे खरीदेगी?'

उसका सन्देह विश्वास में परिणत हो गया है। अब कोई भी और किसी प्रकार की अनिश्चयता नहीं है। किसी भी तरह उसका छुटकारा नहीं है। फूट-फूटकर फुलबसिया रोने लगी।

घाटी का दैत्य

रघुवंश

घाटी की इस सड़क से कुछ हटकर दो-चार लड़कों की छोटी सी भीड़ इस बात की प्रतीक्षा में रुक जाती है कि ट्रक निकलें तो वे ताली पीट कर शोर मचाते हुए उनका स्वागत करें। अनेक बार ऐसा होता है कि इन लड़कों को ट्रकों से कोई उत्तर नहीं मिलता, उनकी अवहेलना कर वे निकल जाती हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि ट्रक ड्राइवर उनकी ओर देख 'साले-हरामजादे' कह कर स्पीडोमीटर को कुछ अधिक तेज़ कर देता है।

कई ट्रकें निकल गई हैं, लड़कों का उत्साह उनकी प्रतीक्षा के साथ शिथिल पड़ रहा है। लड़के गिनती नहीं जानते। वे नहीं जानते कि कितनी ट्रकें नित्य इसी सड़क पर धूल उड़ाती हुई सुबह पूर्व-दक्षिण की चढ़ाई की ओर चली जाती हैं। कुछ दूर समतल दौड़ती जाती हैं, फिर चढ़ती हुई पहाड़ी पर दौड़ने लगती हैं और बाद में एक ऊँचे शीर्ष-बिन्दु से वे एकाएक गायब हो जाती हैं। उनके लिये ट्रक का पास से गुजरना एक उत्तेजक अनुभव है, पर उस बिन्दु पर उनका अदृश्य होना कम कौतुक का विषय नहीं। इस प्रकार यह क्रम एक घण्टा के लगभग चलता रहता है और ये लड़के इस कौतुक के आनन्द में डूबे रहते हैं।

साँझ होते ही ये सड़क के किनारे इसी निचले भाग में फिर एकत्र हो जाते हैं। इस बार इस कौतुक का क्रम उलट जाता है। ट्रक एकाएक उतरने वाली सड़क के शीर्षबिन्दु पर प्रकट हो जाती है, नीचे की ओर तीव्र गति से लुढ़कती हुई समतल पर दौड़ने लगती है। उस क्षण उनका कौतुक उत्तेजना के उल्लास में बदल जाता है, अब वे बिलकुल उनके पास से गुजरनेवाली ट्रकों की गति का अनुसरण इन लड़कों की दृष्टियाँ उत्तर-पश्चिम में बहुत दूर नहीं कर पातीं—कुछ क्षणों में शायद दो-तीन फर्लांग बाद ही, ट्रकें सड़क के मोड़ के साथ पहाड़ी श्रेणियों की ओट में छिप जाती हैं। और उनकी दृष्टि फिर लौटती है—शिथिल भाव से। पर उसी समय ट्रक पुनः पहाड़ी शीर्ष पर

आविर्भूत हो जाती है और शिथिल होकर ढीला होता हुआ उत्साह फिर कौतुक के हल्के झटके से तन जाता है।

सच बात तो यह है कि ये खुद नहीं जानते, कहना चाहिए कि इनके मन में बहुत स्पष्ट नहीं है कि ये ट्रकें क्या हैं ? क्यों इधर से उधर, उधर से इधर आती-जाती हैं ? इनसे मतलब क्या है ? बस ये जानते हैं कि लगभग निश्चित समय पर सुबह शाम ये 'कुछ' दौड़ती हुई निकल जाती हैं। कौतूहल उनका जागता है, वे उनको लेकर उत्साहित होते हैं और कभी-कभी किसी क्षण उनका वह उल्लास आवेश जैसा भी हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये दिन में उनकी प्रतीक्षा करते हैं, रात में सोते समय उनकी ही याद करते हैं। यह कहना भी कठिन है कि दिन में जब ये अपने ढोरों को पहाड़ी घाटियों में चराते हैं, या गीतों की छोटी छोटी उन कड़ियों को जिनको उनके बड़े अपने फेफड़ों को पूरा फैला कर गाते हैं, वे अपने गलों के पतले सुरों में उतारने की कोशिश करते हैं, या जब ये पहाड़ी आम-जामुन की ऊँची डालियों पर चिड़ियों की तरह फुदकते हुए लुका-छिपी खेलते हैं, उस समय पहाड़ी की इस तिरछी घाटी में उतरती और फिर बायें मुड़ कर छिप जाने वाली काली सड़क पर जादू के इस खेल को सदा याद ही रखते हैं। जब अपनी माँ के पास, या बाप के पास या अपनी आजी के पास चिपट कर सोते समय उनकी आँखों में नींद अपने भारी पंखों पर उतरती है, उस समय इनके मन इन ट्रकों की सुधि से घिरते हों, ऐसी बात नहीं। लेकिन यह कहना भी बहुत ठीक नहीं कि इनकी भारी होती पलकों में, उतरती हुई नींद की घाटी में इस ट्रक की दौड़ती हुई रेखा उभरती ही नहीं, अथवा नींद के प्रवाह में, स्वप्न की नौकाओं में दौड़ते हुए उन्हें ट्रकों की गति का कुछ अनुभव होता ही नहीं। इनके नन्हें दिमागों में इस खेल का आकर्षण अनजाने में बिखरा रहता है।

लड़के नहीं जानते कि ये कितने हैं। (संख्या वे कौड़ियों में जानते भी हों, पर) इस जनगणना की कभी इन्हें आवश्यकता नहीं पड़ी। ये और इनका हिसाब सीधा है। लालू जानता है कि यह जोखू है, यह परेवा है, यह ढोली है और यह पतोखी है। जोखू जानता है—यह लालू है, यह परेवा है, यह ढोली है और यह पतोखी है। इसी प्रकार यह कहना उनके लिये कठिन है कि उनमें

आयु का क्रम क्या है! उनके लिये यह जानना ही सहज है कि पतोखी ढोल का छोटा भाई है। जामुन के पेड़ से आम का पेड़ छोटा है, साखू के पेड़ से दोनों छोटे लगते हैं। इसी हिसाब से समझ लेना सरल है कि जोखू से लालू कुछ छोटा है और परेवा तो इन दोनों से ही लाँबा है। वैसे अन्य सभी बातों में ये सभी समान हैं, क्योंकि अधिकारों में सभी समान हैं। ढोरों को चराना हो, घेरना हो, पानी पिलाना हो, खदेड़ना हो, सड़क पार करना हो या घाटी में मोड़ना हो, उनमें समानता है। खेल में भी ये सब समान हैं। हाँ, ढोली का छोटा भाई पतोखी है जिसे ये छोटा मान कर चलते हैं, सभी उसका ख्याल रखते हैं। ढोरों के बारे में तो उसका भाई ढोली है ही, उसे तो केवल सहायता करनी होती है। और खेल में सब जान बूझ कर उसको बचाने की कोशिश करते हैं। वैसे वह अपने आप किसी बात में पीछे रहने को अच्छा नहीं मानता। कई बार बुरा मानता है और कई बार इसी कारण उसे खेल नीरस भी लगने लगता है। जब 'लुकी-छिपी' का चोर डालियों पर दूसरों की ओर सर-सर बढ़ता हुआ उसको बगल में छोड़ आगे निकल जाता है, तब उसे लगता है कि वह ऊपर चढ़े क्यों? वह सोचता कि ये लोग वास्तव में उसे खेल में भाग नहीं देते।

दूसरे सब इसके इस भाव को पकड़ भी लेते हैं, वे उसका मन रखने के लिये उसको छू लेते हैं, चोर बनने का मौका देते हैं और फिर शाखाओं पर काफी भाग-दौड़ का अभिनय करके पुनः छू जाने का मौका देते हैं। अनेक बार पतोखी को यह भ्रम हो भी जाता है कि वह खेल में सचमुच भाग ले रहा है। पर उसी के बाद जो खेल शुरू होता है उसमें अधिक स्फूर्ति, अधिक तेजी रहती है। उसके बीच वह फिर अनुभव करने लगता है कि वह खेल में केवल दिखाऊ गोइँयाँ है, वह केवल खानापूरी है, सचमुच में उसे खेलाड़ी माना नहीं जाता। और जो खेल सचमुच का न हो, वह खेल ही क्या? उसमें किसी को क्या आनन्द मिलेगा। छोटे पतोखी के मन के इस भाव में कई उतार-चढ़ाव आते हैं। कभी वह उदास हो जाता है, कभी खीझ जाता है, कभी वह चिढ़ता है और कभी-कभी उसमें विद्रोह का आक्रोश भी उत्पन्न होता है।

पर एक बात है! पतोखी छोटा हो सकता है, परिस्थिति को समझ न भी सके, पर अनुभव ज़रूर कर लेता है। वह जानता है, उसके सभी साथी उसको प्यार करते हैं और उसका भाई उसे कितना चाहता है। उसे क्रोध है अपने पर, और यह क्रोध फैलकर दूसरों को भी छूता है। क्योंकि उसको असहाय सिद्ध करने में ढोली का ही हाथ रहता है, इस कारण जब उसका आक्रोश

अपनी हीनता से फैल कर दूसरों को छूता है, तब ढोली सबसे अधिक आक्रान्त होता है। वह बेचारा अपने इस छोटे भाई के मन की बात पूरी तरह जानता हो, ऐसी बात भी नहीं। जानता पतोखो ही कहाँ है, वह तो अनुभव करता है। और ढोली तो यही समझता है कि उसका यह भाई कभी कुछ उदास हो जाता है, कभी कुछ खीझ उठता है और कभी अन्दर ही अन्दर भुकरा हुआ जान पड़ता है। वह भरसक उसको प्रसन्न करने की कोशिश भी करता है, साथी भी कुछ-कुछ समझते हैं और बिना कुछ कहे-सुने यह सब चलता है।

यह सब ऐसे ही चल रहा है, और चलता भी रहता। पतोखी इसी बीच धीरे-धीरे बड़ा होता जाता है। इसी प्रकार बढ़ता गया तो प्रतिद्वंद्विता की भावना से वह इनसे अधिक समर्थ हो जायगा। पर अपने इस एकरस जीवन के बीच उनका ध्यान इन ट्रकों की सुबह-शाम दौड़ने वाली पंक्ति पर गया। इस घाटी के पास बसे हुए गाँव के इन लड़कों के मन को इन ट्रकों में काफ़ी आकर्षण मिला। घण्टे आध घण्टे के इस कौतुक का संबंध उनके जीवन-क्रम में इसलिये भी जुड़ गया कि उनके दैनिक जीवन की सीमा-रेखा इनसे बनती है। सुबह होते ही कलेवा करके और अपने अँगोछों में दोपहर की रोटी और मिर्च की चटनी गँठिया कर ये सब अपने-अपने ढोरों के पीछे छोटे डण्डे हिलाते गाँव से मील डेढ़ मील निकल आते हैं। ये सब उस रास्ते से सड़क तक आ जाते हैं जो पग-पग चलने पर भी पगडण्डी के स्थान पर चौड़ा रास्ता बन गया है लेकिन फिर भी घने साखू के पेड़ों और फटूश की झाड़ियों के बीच दूर से एक रेखा जैसा जान पड़ता है। जहाँ इस रास्ते से सड़क को पार कर ये घाटी में उतरने के लिये तैयारी करते हैं, उसी समय पहली ट्रक श्रेणी के मोड़ पर दिखाई पड़ती है। और शाम को जब दिन भर ढोरों को चरा कर, घुमा कर वे घाटी से चढ़ कर इस सड़क के इसी स्थल पर अपने गाँव के रास्ते की ओर मुड़नेवाले होते हैं, लगभग उसी समय ट्रक पहाड़ी शीर्ष-बिन्दु पर प्रकट हो जाती है। फिर आते-जाते ये सब इन ट्रकों की पंक्ति की अन्तिम ट्रक तक को निकाल कर ही आगे बढ़ते हैं।

ढोरों की चिन्ता करने की विशेष ज़रूरत नहीं पड़ती। वे सब अभ्यस्त हैं—रास्ते का दर्रा उनको जानने की ज़रूरत नहीं। उनको पता है कि उनको कहाँ जाना है, कहाँ लौटना है। घर का रास्ता पहचानते हैं, और घाटी के चरागाह भी। आगे-पीछे जाकर वे सब अपनी ढोरों को सँभाल लेते हैं। यात तो

यह है कि ढोर इनसे अधिक समझदार हैं—वे इनकी बालबुद्धि से अधिक सतर्क हैं। देर होते देख, अथवा समय अधिक होता देख कर इन्तजार भी कर लेते हैं। शायद उन्हें यह मालूम है कि घर सीधे पहुँच जाने पर उनके सामने प्रश्न उठ सकता है कि वे इतने बड़े होकर भी इन नासमझ लड़कों को रास्ते में ही छोड़ आये। और तब वे क्या जवाब देंगे। ठीक है, घर कुछ देर में ही पहुँच जायेंगे पर इन अल्हड़ लड़कों को साथ ही ले चलना ठीक है। इनका क्या ठीक, और ये जवाब क्या देंगे। इन सज्ञान पशुओं के ही भरोसे तो मालिकों ने इन नासमझ लड़कों को इतने घने और निर्जन जंगल में भेज दिया है। और ये लड़के हैं कि समझते हैं कि ढोर उनके भरोसे चरने आते हैं।

इस तमाशा के समाप्त होते ही वे सब भाग खड़े होते हैं। उनको जल्दी ही पहुँच कर अपने-अपने ढोरों को सँभालना है। कोई कहीं रुक तो नहीं गया है, कहीं कोई गोल से बिछुड़ तो नहीं गया।

इस हड़बड़ी में पतोखी कुछ पीछे छूट जाता है। इसलिये नहीं कि वे उससे कुछ बड़े हैं, इस कारण आगे निकल आते हैं। अथवा यदि वह चाहे तो भाग कर उनके साथ नहीं हो सकता। पर जिस प्रकार वे जब उसको प्रोत्साहित करने का अभिनय करते हैं तब उसे अच्छा नहीं लगता, उसी तरह जब ये लोग उसका साथ छोड़ देते हैं, तब फिर उसी की प्रतिक्रिया के रूप में वह धीरे-धीरे लौटने का अभिनय करता है। अनेक बार ऐसा होता है। इस बात को अधिक महत्व दिया भी नहीं जाता। पहली बात तो यही है, कि यद्यपि वह धीमे चलता है जान बूझकर पिछड़ जाता है, पर वस्तुतः वह अधिक पीछे नहीं छूट जाता। साँझ सघन होती हुई घाटी को गहरी उदासी से भरने लगती है, इस उदासी से पेड़-पौधे भी मौन हो जाते हैं। इस उदासी के भारी वातावरण के साथ वृक्षों की दौड़ती छायाएँ जान पड़ती कि रात की कहानियों के अज्ञात काले देव दौड़ रहे हों—ऐसे वातावरण में पतोखी किसी हालत में उन सबसे अधिक दूर नहीं रह सकता है। गाँव के अनबुझ लड़के दिन के प्रकाश में तो जंगलों में घूमने वाले रीछ से नहीं डरते, पर अँधेरे की काली छायाओं की कल्पना मात्र से भय-भीत हो उठते हैं। इसके अतिरिक्त पीछे रहने में उसका एक और भाव है। कभी एक दो जानवर किनारे रुक जाते हैं, कभी चौंककर पिछड़ जाते हैं, कभी कोई पेटू जानवर किसी स्थान पर मुँह मारने के लिये भटक जाता है। इन सब इधर-उधर भटके हुए जानवरों को पतोखी हांक लाता है, और इस प्रकार जब उसके साथी गाँव के सिवान के घने फैले बरगद के पेड़ के नीचे ढोरों को अन्तिम

बार सँभालते हैं तब उनको ठीक सँभाल करने में दिक्कत नहीं होती। उस समय यह बतला कर धौरा को पतोखी ने कहाँ देखा था, तितरी को उसने कहाँ पकड़ा और पड़्डे को उसने कैसे घेरा—वह सब पर अपनी योग्यता और सतर्कता की धाक नहीं जमाता, वरन् उनके आदर का पात्र बन जाता है।

वैसे ट्रकों की यह नित्य की लीला इन सभी चरवाहे लड़कों को आकर्षित करती है, पर पतोखी का मन उनसे सब से अधिक उलझता है, कुछ इस लिये भी वह इन सब से छोटा है, अर्थात् बहुत छोटा है। वैसे कौतुक इस प्रसंग को लेकर गाँव के लोगों को भी कम नहीं है। घाटी के इस गाँव के लोग इस ज़माने में ट्रक—मिलिटरी ट्रकों से परिचित न हों, ऐसी बात नहीं है। गाँव शहर से बहुत दूर है, पर क्या हुआ आने-जाने का रास्ता उन्हें ज्ञात है। कई लोग आते-जाते रहते हैं। शहर में जा कर भी इन सब बातों को न जानने का कोई अर्थ नहीं। फिर भी घाटी में इन ट्रकों के आविर्भाव से उनके मन में कौतूहल और जिज्ञासा के साथ भय और आतंक की भावना छा गई। क्यों?

शायद किसी दिन लकड़ी काटने के लिये गई हुई स्त्रियों ने इन ट्रकों को देखा था और उन्होंने इसको गाँव की चर्चा का विषय बनाया था। पर उनके मन पर छाये हुए भय तथा आतंक के कारण बात बहुत धीरे-धीरे ही फैल सकी। बाद में अन्य लोगों ने अपनी आँखों देखा और तब बात चल निकली। लड़कों को लगा कि उनके बड़े किसी चर्चा को उनसे स्पष्ट रूप से करना नहीं चाहते। फिर उनको इस बात के आभास होने में अधिक समय लगा कि चर्चा इसी घटना को लेकर होती है और इसके विषय में वे उनसे अधिक जानते हैं। बात उन्हें मजे की लगी कि उनसे इन्हीं बातों का चर्चा को बचाया जाता है जिनसे वे स्वयं इतने अधिक परिचित हैं। आते-जाते रोज़ ही मिलती हैं। गाँव के बड़े-बूढ़े यह जानते न हों, ऐसी भी बात नहीं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि वे अपनी बुद्धि को बच्चों की बुद्धि से अधिक मानते हैं। लड़कों को यह बहुत अच्छा नहीं लगता, फिर भी इस विषय पर दोनों पक्षों में किसी प्रकार की चर्चा होने से रही।

इस प्रसंग को लेकर चर्चाएँ लम्बी हैं, और उनको सुन कर लड़कों का ऊहापोह भी बहुत है। पर सब के सामूहिक निष्कर्षों के अनुसार मतलब यों है कि लड़ाई अब छिड़ी तब छिड़ी, क्षण का ठीक नहीं। गाँव सीमा के पास है।

अब तब में कोई मिसाल नहीं—पहले लड़ाई धर्म की होती थी देवता दैत्यों से लड़ते थे। अधर्म तो हारता ही, आदमी का साथ भगवान् देते थे। अब तो लड़ाई में अधर्म ही अधर्म है। दोनों ओर दैत्यों की लड़ाई है। आदमी का सहायक कोई नहीं। इन दैत्यों की लड़ाई में आदमी पिसता है। यही वजह है कि दोनों ओर से राक्षसी माया की चाल है। शहर में सुना है कि लड़ाई बम से होगी, टैंकों से होगी, चीलहगाड़ी से होती है। चीलहगाड़ी के विषय में लड़कों की कल्पना प्रखर है। अनेक बार उन्होंने घाटी पर मड़राते—घर्र्-घर्र् करते चीलहगाड़ियों को देखा है। ये समझते हैं कि बहुत भारी चीलहों को जोत कर ये रथ बनाये गये हैं, जिनके पहिये आकाश की अदृश्य सड़क पर घरघराते चलते हैं। कौन इस पर बैठता होगा। बड़े कहते हैं चीलहगाड़ी पर आदमी बैठते हैं। लड़के मानने को तैयार नहीं। उन्हीं का कहना है कि लड़ाई दैत्यों की है, तो दैत्य ही चीलहगाड़ी पर बैठते होंगे।

और ट्रकों के विषय में इनके मन में स्थिति कुछ भी स्पष्ट नहीं है। लड़कों ने खुद देखा है कि उन पर बैठे हुए उन्हीं जैसे लोग हैं—सामने बैठा वैसा ही है और उस पर बैठे या खड़े लोग वैसे ही लगते हैं। पहली ट्रक पर ज़रूर भिन्न प्रकार का सफ़ेद व्यक्ति रहता है, इसी प्रकार अन्तिम पर भी वही व्यक्ति रहता है। पर सफेद होने से क्या वह आदमी न हो ऐसी बात नहीं। लेकिन ये जो गाड़ियाँ अपने आप इतनी तेज़ी से पहाड़ी के नीचे-ऊपर दौड़-भाग सकती हैं, क्या ये दैत्य नहीं? दैत्यों की ही माया होंगी? हल्का सा यह आभास रहने पर भी लड़के इन पर चढ़े हुए परिचित से लोगों से आश्वस्त रहते हैं। बहुत कुछ इसी कारण ट्रकों के सामने रहने पर प्रायः उनको भय नहीं लगता। बाद में बड़ों के मन की आतंक तथा भय की भावना छाया-लोक के भय के समान उनके मन पर भी कभी-कभी फैल जाता है। यह बात दूसरी है कि इन लड़कों के मन पर लड़ाई का कुछ स्पष्टरूप नहीं है और न यह ही अनुमान करने में समर्थ हैं कि फौज़ी डेरे के पास होने से किसी गाँव को क्यों भय लगना चाहिये। वे डरते हैं केवल इस छायाभास से कि यह सब कुछ छायाभासित अज्ञात लोक के दैत्यों की लीला से संबद्ध है।

वैसे भी उनके मन ही मन में भय की भावना—कभी सन्ध्या की घनी होती छाया में, घाटी के सूनसान सन्नाटे में—या झींगुरों की तेज़ और तीखी झंकार में—फैल जाती है। यह सारा जीवन उनको पहले से परिचित है। न जाने कब से ये इसी घाटी में, इन्हीं जंगलों में, इन्हीं ढालों पर अपने ढोरों को

ले जाते हैं—पर ऐसी मन को घेर कर दबाव डालने वाली भावना उठी नहीं। मन आंतांकित न हुआ हो, यह कहना ठीक नहीं है। पर वह सुने हुए देवों, जिन्नों, ढीह देवताओं, ब्रह्मदेवों के रात के किस्सों का रोमांच कभी-कभी उनको इन स्थानों पर अभिभूत करता था। पर अब तो, दैत्य की राक्षसी लीला की शृंखला नित्य इन ट्रकों के रूप में इनके सामने आविर्भूत होती है।

पर पतोखी, छोटे पतोखी को इन ट्रकों की शृङ्खला-पंक्ति में एक और मोह है—मोह जो कभी भय की आतंक भावना को गहरा और गहरा करते रहने के लिये ही होता है। मोह पतोखी में उत्पन्न हुआ था। वास्तव में ट्रकों का अलग अस्तित्व उसके लिए नहीं है—वह तो उनको दौड़ती हुई अदृश्य होती हुई, फिर एक छोर पर प्रकट होती शृंखला को जानता है, पहचानता है। यह मोह है कि अजगर की लपेट की तरह उसको कसता जा रहा है। बियाबान जंगल के बीच में जैसे कोई अकेला यात्री अजगर की लपेट में बरबस फँसता जा रहा हो और वह असहाय चारों ओर देख रहा हो। धीरे-धीरे वह निष्क्रिय पदार्थ उसके अंगों को चारों ओर से बाँधता जा रहा हो। चमकती हुई चिकनी उसकी माँसल देह धीरे-धीरे अपने घेरे को कम करती जा रही है। अभी तक लपेट पूरी नहीं है और न उसके शरीर की पेशियों में कोई खिंचाव या तनाव आया है। कुंडली बस घिरती जा रही है, और संकुचित होती जा रही है। और उस यात्री की ठीक आँखों के सामने उसी अजगर की चमकती हुई आँखें हैं, जिनको यात्री ने दूर से देखा था जिनसे खिंच कर वह आगे बढ़ता आया है, आगे चलता आया है। मन में उसे कोई निरन्तर सतर्क कर रहा था कि वह रास्ता ठीक नहीं—सावधान! पर अब भी वे ही आँखें उसके तन-मन को जकड़े हैं, बन्धन अभी ढीला है, पर उसके मन की इच्छा बन्धन के प्रति शिथिल होती जा रही है और अभागा यात्री। वह निरुपाय होकर बन्धन में फँसता जा रहा है। उसके मन का मोह ही है जो इस प्रकार उसे स्वयं ही इस बन्धन को स्वीकार करने के लिये विवश कर रहा है। इसी तरह का मोह, इसी तरह का कोई आकर्षण पतोखी के मन को खींचता है। अपने सब साथियों से उसके मन की यह स्थिति भिन्न है।

इसका कारण है। अनेक बार जब अन्य सब बातचीत में व्यस्त रहते हैं, उस समय वह अपने को अलग पाता है, अकेला पाता है। ऐसा नहीं कि साथी बातचीत करना नहीं चाहते, उसको भाग लेने का अधिकार नहीं देते। पर कुछ

ऐसा उनकी ओर से स्नेह-उदारतावश ही होता है जिससे उसका मन विद्रोह करता है। मान लिया जानवरों को घेरना है और सब ने आग्रह भी किया कि पतोखी की बारी है और पतोखी ने इस भार को गौरवपूर्वक लिया भी। परन्तु इसी बीच उसका भाई टोली अपने साथी लालू के साथ छिप कर जानवरों को नज़दीक घेर लेता है ताकि पतोखी को कष्ट न हो पतोखी समझता है और उसका मन विद्रोह की भावना से व्याकुल हो जाता है।

ऐसे क्षणों में वह गुमसुम अनमना होकर एक ओर अलग हो जाता। कभी वह चुपचाप मौन भाव से बैठा रहता है, उसके मन में नाना प्रकार की कल्पनाएँ उठती हैं और घूमती हैं। इन्हीं कल्पनाओं में वह इन ट्रकों को चुपचाप दौड़ते देखता है। पहाड़ी के ऊँचे शीर्ष पर कोई ट्रकों अकस्मात् आविर्भूत होती है और उसके पास से सर से निकल कर दूसरी ओर गायब हो जाती है।...फिर इसी प्रकार और फिर...। लेकिन फिर ट्रक मानों दैत्य के रूप में दौड़ने लगती है...भयानक दीर्घकाय दैत्य। उसका मुख जैसे गोल निशान वाली ट्रक के सफेद आदमी के मुख जैसा हो...जो कभी-कभी उनको शोर करते देख रफ्तार धीमी कर क्रुद्ध दृष्टि से घूरता हुआ 'डैम ब्लडी' कह कर निकल जाता है और वे विशेष कुछ नहीं समझते। परन्तु इस एकांत में वह दैत्य के मुख पर झलकते हुये आक्रोश से अन्दर सहम उठता है। फिर वह दैत्य के सामने से भागता क्यों नहीं.........वह भाग सकता है, वह अपनी टाँगों पर खरहे जैसा भागता रहता है। पर उसे लग रहा है—दैत्य पहाड़ी ढाल पर दौड़ता चला आ रहा है, अपना मुँह उसी की ओर फैलाये हुए हैं···और वह निस्सहाय खड़ा है। वह खड़े रहने के लिये जैसे विवश है। दैत्य पास आता जा रहा है, दैत्य का मुख फैलता जा रहा है और मुख का लक्ष्य वह स्वयं है। दैत्य बहुत निकट आ गया है····और वह सीधे बैठा है, दम साधे बैठा है बैठा है कि अब दैत्य के मुँह में गया, अब गया। दैत्य बिल्कुल पास है और एक क्षण की तीखी वेदना के बाद ही वह अनुभव करता है कि दैत्य उसके पास से सर से निकल गया। एक क्षण के लिये उसे तीखी अनुभूति से बचने का ठंडा सा अनुभव होता कि उसी चोटी पर दैत्य पुनः प्रकट हो जाता। इस बार और तेजी से वह दौड़ता है, और मुँह विस्तार में खुलता है उसके अन्दर जाने की सम्भावना और भी व्याकुल करती है···पर पीड़ा जब चरम क्षण पर पहुँच कर जाती है, उसी क्षण दैत्य आगे निकल जाता है—वह बाल-बाल बच जाता है। पतोखी का डूबता मन फिर थिर हो जाता है, आतंकित और विह्वल प्राण एक गहरी साँस लेता है कि फिर···।

पतोखी अपने अकेलेपन में दैत्य के इस रोमांचक खेल से क्यों उलझता है ? पर ऐसा नहीं, यह खेल अपने आप उसे घेर लेता है। उसमें उसका मन विचित्र आकर्षण के साथ मोह का अनुभव करता है। वह इस कल्पना में डूबा रहता, डूबा रहता और इस प्रकार बहुत समय निकल जाता। ऐसा नहीं कि उसने साथियों से इस खेल का उल्लेख किया न हो। उसने अपने भाई से पूछा था कि 'भइया क्या दैत्य रूप धरते हैं ?' भइया ने गम्भीर होकर उत्तर दिया था कि 'रूप न धरें तो दैत्य ही काहे के।' फिर इससे अधिक क्या पूछता।

अनेक बार की तरह पतोखी इस बार भी कुछ शिथिल भाव से रुक गया। सब समझ चुके थे कि ट्रकें पास हो चुकी हैं, अन्तिम ट्रक पर एक वृत्त में गोल घेरा देख चुके थे। फिर उनका रुकना व्यर्थ था। ट्रक के पास होते ही वे अन्तिम बार शोर मचा कर, शोर की अनुगूंज को पीछे छोड़ कर अपने आगे बढ़ गये ढोरों की ओर भागे। पतोखी ने शोर में सब का साथ दिया था, पर वह उसकी अनुगूंज सुनता हुआ रुक गया। वह इस अनुगूंज को—अपनी ही प्रतिध्वनि के मिटते हुए स्वरों को जैसे अलग वस्तु के समान अनुभव करता है। उसके मन पर उदासी और शिथिलता का बोझ पड़ रहा है और उसकी दृष्टि के उसी शीर्ष पर अब भी फैली हुई है। वह इस सारे उदासी और भय के वातावरण को झटके के साथ अलग कर भागता हुआ अपने साथियों में मिल जाना चाहता है। पर उस क्षण भय के मोह ने उसे रोक लिया और उसने आश्चर्य से देखा शीर्षबिन्दु पर ट्रक एकाएक प्रकट हो गयी है। मन में झटका सा लगा, क्षण भर वह स्तब्ध रहा...लेकिन ट्रक ढाल पर दौड़ रही है, ट्रक भागी आ रही है...पर यह ट्रक नहीं, ट्रक कहाँ है। यह तो दैत्य सा, दैत्य है। वही, बिल्कुल वैसा ही। उसने गौर से देखा, ध्यान से देखा—यह वही दैत्य, वैसा ही मुँह है...और वह मुँह फैलाता जा रहा है—भागता आ रहा है। उसका मुँह ज्यों-ज्यों खुलता जा रहा है—वह उसी की ओर जान पड़ता है दौड़ता आ रहा है। लेकिन वह क्या करे—साथी सब आगे बढ़ते जा रहे हैं। वह पुकार सकता है, अभी बहुत दूर नहीं हैं। वह पुकारना चाहता भी है, पर आवाज़ नहीं निकलती। आवाज़ को क्या हुआ। दैत्य का मुँह उसी की ओर बढ़ता आ रहा है। वह यह भी समझ रहा है कि यह दोपहर के समय पेड़ की डाल पर बैठ कर कल्पना करने जैसी बात नहीं है। यह तो बिल्कुल सच है, जैसे वह सच है, घाटी सच है। अब दैत्य नहीं दिखाई देता, केवल मुँह—फैला हुआ

विकराल मुँह उसके पास—और पास आता जा रहा है। अन्दर से पसीना छूट-कर सूख गया, कँपकँपी आकर रुक गई—वह स्तब्ध विजड़ित खड़ा है। क्यों खड़ा है वह? क्यों उस मुख में समाने के लिये खड़ा है? उसके मन में कहीं कोई आकर्षण का सम्मोह भी है। मुँह उसकी ओर बढ़ता आ रहा है और अब उसे लगा कि वह स्वयं उसकी ओर खिंचता जा रहा है।

एक झटके के साथ उसने अनुभव किया जैसे बिजली की करेंट से झन-झना उठा हो और न जाने किस शक्ति से वह सड़क पर बेतहाशा भाग रहा है—दौड़ रहा है। उसे गति और शक्ति का कुछ ध्यान नहीं है। बहुत तेज़ भाग रहा है और दैत्य मुँह फैलाये तेजी से उसका पीछा कर रहा है—भागते हुए केवल यही अनुभव उसे होता है। तेज़ और तेज़ भाग रहा है...उसे कुछ होश नहीं, कुछ ज्ञान नहीं। भागते भागते ही बेहोशी की उस हालत में उसे जान पड़ा—दैत्य ने अपने जबड़ों के बीच उसे दाब लिया और पीस दिया हो जैसे...बस।

कुछ ही देर बाद ढोली ने यह महसूस किया पतोखी अभी तक नहीं पहुँचा। वह पीछे भी बहुत दूर तक नहीं है। वह समझता है—यह स्वाभाविक नहीं है। ऐसा कभी नहीं होता। चुपचाप लौट पड़ता है। रास्ते के ढालों पर कुछ नहीं दिखाई पड़ा। रास्ते में भी नहीं मिला। आख़िर पतोखी कहाँ है! ढोली सड़क पर आ गया। फिर अनजाने, परेशान सड़क पर घाटी के छोर की ओर चल पड़ा। वह चलता गया—एक फर्लांग तक कुछ नहीं दिखा—वह बढ़ता गया—दूसरे फर्लांग पर पहुँचते-पहुँचते उसे लगा कुछ दूर सड़क पर कोई पड़ा है—शंकित मन से बढ़ा। धीरे-धीरे पास पहुँचा—अरे—यह क्या—पतोखी—पतोखी!—पतोखी!!

ढोली अकेला उस घाटी में खड़ा है। सन्ध्या घिर रही है, घाटी में अँधेरा जंगल और पहाड़ की छायाओं से मिलकर सघन होता जा रहा है। सामने पतोखी पड़ा है—पतोखी उसका भाई—धुँधली होती हुई काली सड़क पर खून का गाढ़ा चिपचिपा धब्बा है, और टायरों की दो लकीरें दूर तक बन गई हैं, लकीरें हल्की होती हुई काली सड़क में खो गई हैं, और सड़क गहराते अन्धकार में!

सूने दिन—सूनी रातें

शान्ति मेहरोत्रा

दीवार की घड़ी ने टन-टन-टन-तीन बजाये। गली के छोटे से एक मकान के कमरे में अकेली पड़ी हुई बुढ़िया बड़बड़ाई—'अभी सिर्फ़ तीन ही बजे हैं—रातें कितनी लम्बी होती हैं, भगवान!—' उसने आँखें बन्द करके फिर सोने की चेष्टा की लेकिन देर से सोने और जल्दी उठने की आदत होने के कारण उसे नींद न आई। करवट बदलते हुए उसने लिहाफ़ सर तक खींच कर ओढ़ लिया। पाँच-दस मिनट चुपचाप पड़ी रहने के बाद वह ऊब कर उठ बैठी। स्टूल को टटोलकर उस पर रक्खे लोटे से पानी लेकर कुल्ला किया, आँखों पर पानी के छींटे देकर धोती के पल्ले से मुंह पोंछा, और वहीं खाट पर बैठे-बैठे हाथ जोड़कर सर झुकाते हुए श्रद्धा भरे स्वर में कहा, 'बेड़ा पार करियो स्वामी—तेरे ही आसरे हूँ—हे नाथ! चलते-फिरते हाथ-पैरों मौत दीजियो!' स्वनिर्मित इस प्रार्थना के बाद वह अपने पोपले मुँह से गुनगुनाने लगी, 'शरण तुम्हारी में हम पड़े हैं, दया करो हे दयालु भगवन्!'

ब्राह्म-मुहूर्त में, इसी तरह बैठ कर, यही प्रार्थना और यही भजन वह बीसियों साल से गुनगुनाती आई है।

वह आठ वर्ष की थी तभी उसका विवाह हो गया था, तेरह वर्ष की होते-होते उसका गौना हो गया और उसी कच्ची आयु में झाड़ू देने और कपड़े धोने से लेकर खाना बनाने तक का सारा काम अपने हाथों में लेकर वह निरंतर उसे कुशलतापूर्वक निबाहती रही। जाड़ों के दिनों में अवकाश पाने पर वह ससुर और पति के स्वेटर, गुलूबन्द और मोज़े बिनती थी, और गरमियों में तकिए के गिलाफ़ों पर फूल तथा सास की या अपनी चोलियों पर बेलें काढ़ा करती थी। पढ़ना-लिखना उसे बिलकुल नहीं आता था। माँ-बाप ने यह कह कर टाल दिया था कि क्या यह कचहरी जायगी जो उसे पढ़ा-लिखा कर चौपट करें? सास ससुर ने भी इसकी आवश्यकता नहीं समझी, और पति को तो पत्नी के

७

विषय में कुछ कह पाने का अधिकार था ही नहीं। वैसे पति शौकीन तबियत का था और यदि वह उसके पास रहता तो धीरे-धीरे शायद वह चिट्ठी लिखना-पढ़ना सीख जाती, किन्तु सेना में भरती हो जाने के कारण वह अधिकतर परदेश ही रहता था। बीच में जब कभी उसे पत्नी को साथ रख पाने की सुविधा मिली और बहुत सोचने-विचारने के बाद जब डरते-डरते उसने इस ओर संकेत किया तो माँ बाप ने दुलार में यही कहकर टाल दिया, 'अरे! अभी तो वह बच्ची है—भला परदेश में अकेली कैसे रह पायेगी'।

इसी तरह दिन बीतते गये। पति बराबर 'पूज्य बाबू और अम्मा' के नाम पत्र लिख कर भेजता, ससुर बाँचते और सास-बहू तन्मय होकर सुनतीं। आपस में चिट्ठी-पत्री लिखते रहने की न कभी आवश्यकता ही समझी, न उसके लिए उपयुक्त साधन ही थे। हाँ, अपने साथियों की देखा-देखी, छुट्टियाँ घर पर बिता कर वापस जाते समय दो बार वह एक एक लिफाफे पर अपना पता लिख कर पत्नी को देते हुए उससे अनुरोध कर गया था कि वह उसे पत्र लिखवा कर डलवा दे। इसके लिए, दिन में सास-ससुर के सो जाने पर बड़ी मिन्नत करके वह अपनी एक पढ़ी-लिखी पड़ोसिन-बहू को पकड़ लाई थी, और घंटों सोच-सोच कर उसने अपने ये प्रेम-पत्र लिखाये थे, जिनमें ऊपर नीचे कुछ नहीं लिखा था। 'यहाँ सब लोग अच्छी तरह से हैं। देवी मइया आपको राजी खुशी जल्दी घर लौटाएँ। अपना ख्याल ठीक से रखियेगा। यहाँ सब को घर बड़ा सूना लगता है।' यही उसके दोनों प्रेम-पत्र थे, जो उसने दो-दो आना घूस देकर डलवाये थे।

किन्तु उसकी मनोकामना मन ही में रह गयी और एक दिन तार द्वारा उसे अपने दुर्भाग्य की सूचना मिली। सास छाती पीट-पीट कर चिल्लाती रही—'हाय बहू—यह क्या हुआ?—यह दिन भी मुझे देखना बदा था—भगवान! तूने मुझे इससे पहले ही क्यों नहीं उठा लिया—हाय बेटी! अब तेरा क्या होगा?'

लेकिन होना क्या था। वह रोती रही और जीती रही। दस-पन्द्रह वर्ष साथ देने के बाद एक-एक करके सास-ससुर ने भी आँखें मींच लीं और वह बिलकुल अकेली रह गई। और इस नितान्त सूनेपन को वह तीस साल से ढोती आ रही है।

बुढ़िया ने प्रार्थना के बाद पाटी पर सर झुकाया; कुछ क्षण वैसी ही बैठी रहने के बाद, पाँव खाट के नीचे लटकाये, और नीचे उतरने की चेष्टा करने लगी। एक पाँव ज़मीन पर लगा, और फिर प्रयास करके उसने दूसरा भी धरती पर टेक दिया। स्टूल का सहारा लेकर वह धीरे-धीरे खड़ी हो गई लेकिन स्टूल छोड़ते ही डगमगाने सी लगी। उसने, अन्दाज़ से, दीवार पर हाथ टेक दिए और सहारा लेकर कई कदम आगे बढ़ाए। इस तरह कुछ दूर बढ़ने के बाद, टटोल कर, उसने आले पर से लालटेन और माचिस उतारी, काँपते हाथों से कई बार तीली को मसाले पर रगड़ा पर हर बार तीली डिब्बी के ऊपर, नीचे या दायें-बायें निकल गई। "ओफ!" कहते हुए बुढ़िया ने वह तीली फेंक कर दूसरी निकाली और किसी तरह लालटेन जला कर धीरे-धीरे चौके में चली गई। रात में उसे बहुत कम दीखता था, इसलिए वह दिन में ही चूल्हे में लकड़ियाँ चुनकर लगा देती और वहीं थोड़ा सा कागज भी रख देती थी। आग जला कर उसने पानी गर्म किया। जाड़े में ठण्डे पानी से नहाने पर उसका सारा शरीर ऐंठ जाता था, इसलिए इतना कष्ट उठा कर भी वह गर्म पानी से ही नहाती थी।

नहाने के बाद एक फटे कम्बल पर बैठ कर वह माला फेरने लगी। पास के घर से किसी बच्चे की रोने की आवाज़ सुनकर, अभ्यस्त अंगुलियों से माला के दाने आगे खिसकाते हुए और मुँह से 'राम, राम' कहते हुए, उसने सोचा 'यह तो रमुआ की आवाज़ है—बेचारा सवेरे सवेरे रो रहा है—आज कल का ज़माना ख़राब है—हमारे समय में माताएं दिन-रात बच्चों के आगे-पीछे घूमती रहतीं थीं—लेकिन अब तो वे बिलकुल ध्यान ही नहीं देतीं—न ढंग से तेल लगायें, न काजल—[illegible] उल्टा सीधा कुछ खिला-पिला दिया और फिर [illegible] सब को दिखा देती कि बच्चे कैसे पाले जाते हैं—[illegible] नाती-पोते होते—वंश का नाम चलता—पुरखों को पानी देने वाला कोई होता—सोचते सोचते सहसा उसका हाथ रुक गया और आंचल से उसने अपनी गीली पलकें पोंछ लीं। बच्चा रो-धोकर शायद फिर सो गया।

वृद्धा की विचारधारा ने भी दिशा बदली—आज खाने के लिए क्या बनाऊँगी?—पूड़ी और गोभी की तरकारी—कल तरकारी वाला दो आने का एक गोभी का फूल दे गया था—पहले तरकारी कितनी सस्ती मिलती थी—और अब—अब तो किसी चीज पर हाथ रखना भी मुश्किल

है—'सहसा उसके घुटनों में टीस सी उठी। बायें हाथ से घुटने दबाती हुई वह फिर विचारों में बह चली—'बड़ा दर्द है पैरों में—कोई तेल लगाकर अच्छी तरह दबा दे—मगर कौन?—मेरे समय कौन काम आयेगा?—एक मैं ही गूरख थी जो सारे मुहल्ले के लिए जान देती फिरती—आज रग्घू के घर बड़ियों की दाल पिसवानी है—कल राधा की माँ के साथ आलू के पापड़ बेलवाने हैं—परसों शीला की रेशमी धोती काढ़नी है—गली भर में कोई ऐसा घर नहीं था जहाँ मेरे हाथ की बिनी हुई कोई न कोई चीज़ न रही हो—नन्हे-नन्हे मोजों से लेकर बड़े-बड़े स्वटेर और गुलबन्द तक—मगर सब अकारथ था—सब बेकार—' सोचते-सोचते उदास होकर उसने घुटनों पर सर टेक लिया, सहसा याद आ जाने पर वह, चौंक कर, फिर जल्दी-जल्दी माला फेरने लगी।

सूरज निकल आने पर वह उठी, सुबह शाम का खाना बना कर रख दिया और चाय का ग्लास तथा तीन-चार उबले आलू लेकर उसी कम्बल पर बैठ कर वह फूँक-फूँक कर चाय पीने लगी। वह अक्सर बीमार रहती थी। रक्तचाप बराबर बढ़ा रहता था इसी से डाक्टर ने नमक, दूध और गरिष्ट भोजन बन्द कर दिया था। लेकिन उसकी अपनी सीमाएँ थीं, वह क्या करती। कौन गर्म-गर्म रोटी बना कर उसे खिलाता? कौन बार-बार चूल्हा जलाता और कौन उसके भोजन में हलके भारी का भेद करता? अपने काँपते हाथों से, जो कुछ बन पड़ता था—वही पका कर रख देती थी।

वह चाय पी रही थी पर उसकी दृष्टि दरवाज़े पर अटकी थी। वह चाहती थी कि कोई बच्चा भी आ जाता तो वह उससे कुछ बातें करती। जब तक उसके पैरों में दम रहा, वह मुहल्ले भर में चक्कर लगाती रही और सब की बहू-बेटियाँ उसके पास आती-जाती रहीं, पर अब वह ज्यादा चल फिर नहीं सकती। इसके अतिरिक्त जो उसके बराबर की हैं, उन्हें अपने-अपने लम्बे-चौड़े परिवारों में दम मारने तक की फ़ुरसत नहीं है। युवतियाँ यूँ ही उससे कन्नी काटती हैं कि कहीं बुढ़िया ने देख भी लिया तो घंटे भर तक दिमाग़ चाट लेगी। बच्चे ज़रूर उसके पोते हैं मगर सिर्फ़ दोपहर के भोजन के बाद जब उन्हें फिर भूख लगती है और घर में कुछ माँगने का साहस नहीं होता, तब वे उसे 'दादी, दादी' पुकारते हुए घेर लेते हैं और जो कुछ पाते हैं उसे छीन झपट कर खा लेने के बाद फौरन वापस भाग जाते हैं। वे हमेशा ही इस चक्कर में रहते हैं कि कब कुछ मिले और कब भागें, पर उनकी प्यारी-प्यारी बातों के लिए लालायित,

अकेलेपन से ऊबी हुई बुढ़िया कभी गर्म-गर्म हलवे का लालच देकर, कभी बेसन के लड्डू दिखा-दिखा कर उन्हें रोके रहना चाहती है, जिससे कुछ देर के लिए ही उसका घर भरा रहे। लेकिन बच्चे उससे भी गुरु थे। जब वह कहती, 'आओ—मेरे पास बैठो—मैं तुम्हारे लिए बहुत बढ़िया मिठाई बना दूँगी,' तो वे उसके गले में अपनी नन्ही-नन्ही बाँहें डालकर बड़े दुलार से कहते, 'दादी!—तुम बड़ी अच्छी हो—तुम बनाओ, तब तक हम बाहर खेलते हैं—जब बन जाय तब पुकार लेना।'

बुढ़िया इसमें ही तृप्त हो जाती थी। उनको लेकर व्यस्त रहने में भी उसे अपार सुख का अनुभव होता था।

बच्चों के अतिरिक्त उसका एक साथी और है—किशन। तेईस चौबीस वर्ष का हँसमुख और बातूनी युवक। वह किसी दफ़्तर में काम करता है। पड़ोस में कोई बराबर का न होने के कारण वह अविवाहित, अलमस्त युवक समय काटने के लिए अक्सर उसके पास आ बैठता था और दुनियाँ भर की खबरें सुना जाता था। एक दिन वह ताश लेकर आया और बोला 'आओ दादी! तुम्हें ताश खेलना सिखा दूँ।'

'अरे बेटा, घाट किनारे लकड़ियाँ सूख रही हैं—अब मैं क्या ताश खेलूँगी।'

'वाह दादी! ताश खेलना क्या कोई बुरी बात है—तुम पत्ते तो उठाओ—मैं बताता चलूँगा—इस खेल को कहते हैं 'रमी'—ये लो दस पत्ते।'

बुढ़िया ने किशन का मन रखने को पत्ते उठा लिए थे, लेकिन, धीरे-धीरे, खुद उसका मन ताश के उस खेल में रमने लगा। उसने किशन को दो रुपये देकर नये ताश मंगवा लिए। इतवार को, दिन में, उनका खेल निश्चित रूप से जमने लगा। लेकिन कुछ ही दिन में उस खेल से किशन का मन ऊबने लगा। वह अक्सर काम का बहाना करके चला जाता था। उसके न आने या आकर जल्दी चले जाने पर बुढ़िया बहुत दुःखी होती और कभी कभी रूठकर रो भी लेती थी। बहुत सोचने-विचारने पर आखिर उसे एक उपाय सूझा। वह किशन के साथ पैसों से रमी खेलने लगी। एक पैसे की प्वाइन्ट लगाते। खेल में अनाड़ी होने के कारण हार बराबर उसी की होती थी। किशन भी सोचता कि चलो दो ढाई घण्टे में रुपया डेढ़ रुपया मिल जाता है तो क्या बुरा है—

शाम को सिनेमा देखने के लिए काफी है। और इस तरह इतवार को उनका खेल नियमित रूप से चलता था।

उस दिन भी चाय पीने के बाद बुढ़िया ने मुस्करा कर अपने आप से ही कहा, 'आज इतवार है—किशन जरूर आयेगा,' बाहर के कमरे में चटाई बिछा कर उसने एक तरफ दो तकिए रख दिए और बीच में ताश की गड्डी। इसके बाद बेंत की एक पुरानी टूटी हुई आरामकुरसी को खिड़की के पास खींच कर वह लोगों का आना-जाना देखती रही, उनकी बातचीत सुनती रही और, उतनी दूर बैठे-बैठे उनके सुख-दुख में भाग लेती रही।

काफी देर बाद उसे किशन आता दिखाई दिया। सहसा उसका चेहरा खिल उठा और उस पर पड़ी हुई झुर्रियाँ सिमट कर और भी पास पास हो गईं। बड़े उत्साह से उसका स्वागत करती हुई वह बोली, 'आओ बेटा।—न जाने कब से तुम्हारी राह देख रही हूँ।'

'नहीं दादी, अभी बैठूंगा नहीं—अम्मा ने ये पूछने को भेजा है कि तुम्हारे पास फूलदार दरी है?'

'हाँ, हाँ—वह कोने में जो बड़ा सन्दूक है उसी के ऊपर—चलो मैं निकाल दूँ।'

'नहीं दादी, तुम बैठी रहो—मैं ही उठाये लाता हूँ।'

बुढ़िया ने धड़कते हुए मन से पूछा, 'वापस आओगे न किशन?—या कोई मेहमान आये हैं?'

किशन का चेहरा सहसा लाल हो गया। उसने कुछ सकुचाते हुए मुस्करा कर उत्तर दिया, 'इटावे वाले आये हैं,' और इतना कह कर वह तेजी से बाहर चला गया।

बुढ़िया के हाथ-पैर सुन्न पड़ गये। आँखें फाड़-फाड़ कर वह दरवाजे की तरफ देखती रही। 'इटावे वाले आये हैं', यह चार शब्द हथौड़े की तरह उसके मन पर चोट करने लगे। 'नहीं—नहीं—यह कभी नहीं हो सकता,' उसने घबड़ा कर सोचा, 'वे लोग इसे कभी पसन्द नहीं करेंगे—वे सिर्फ देख कर ही लौट जायेंगे—लेकिन किशन सुन्दर है—कामकाज में लगा हुआ है—अच्छे घर का है—फिर भला कोई उसे क्यों नहीं पसन्द करेगा,' उसे लगा जैसे उसकी साँस रुक जायेगी। इस आघात से जर्जर होकर वह एकाएक रोने लगी। उसकी ठोड़ी फड़कने लगी और नाक लाल हो गई। आसमान की ओर देखते हुए,

बड़े विषाद भरे अस्फुट स्वर में उसने कहा, 'मेरे जीते कहीं उसकी शादी न हो जाय, भगवान !—नहीं तो क्या फिर वह मुझ बुढ़िया के साथ कभी ताश खेलने आयेगा ।'

दो चार घंटे बहुत खिन्न रहने के बाद वह चुपचाप कुर्सी पर बैठ कर सूनी गली के तरफ देखती रही। बैठे-बैठे उसे ध्यान आया कि सन्दूक खुला पड़ा है। उसने उठने की चेष्टा की मगर काफी देर बैठे रहने के कारण पैर सो गया था। वह धीरे-धीरे उठी और बड़ी मुश्किल से भीतर की कोठरी में पहुँची।

डाक्टर उसे बता चुका था कि यदि वह उचित परहेज और दवा न करती रही तो पक्षाघात की पूरी संभावना है। इस बात को याद करते हुए वह काँप उठती थी। उस दशा की कल्पना इतनी भयावह थी कि वह हर प्रकार का प्रयास करके उसे भूली रहना चाहती थी।

इसी तरह अकेले बैठे-बैठे सूरज डूब गया। उसने ठण्डी साँस लेकर शून्य में कहा, 'फिर रात शुरू,'—अँधेरे में उसका मन बहुत घबराता था। अकेले एक-एक पल काटना भारी हो जाता था। न बीता हुआ कुछ दुहराने को था, न भविष्य से कोई आशा। बस ! केवल सूनापन, सूनापन, सूनापन !

खाना खा कर वह ओढ़ कर पड़ रही। रात अँधेरी थी, जाड़े की लम्बी, सूनी रात। सोते-सोते वह डर गई, उसकी घिग्घी बंध गई। वह चौंक कर उठ बैठी। सपने में उसे लगा जैसे कोई उसका गला दबाये जा रहा था। वह बहुत ज्यादा घबरा गई थी और उसका गला बिलकुल सूख गया था। पानी पीने के लिए उसने खाट से नीचे उतरने की कोशिश की किन्तु पाँव लड़खड़ाये और वह नीचे गिर पड़ी। उसका कलेजा बैठने लगा, डर के कारण आँखें फैल गईं। साँस बेहद तेज चलने लगी। उसने दोनों हथेलियाँ जमीन पर टेक कर उसने कोशिश की मगर हाथों में पूरे शरीर का भार सम्हालने का दम नहीं था। वह फिर ढुलक गई। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे और 'हाय राम !' कहकर वह सोचने लगी कि किसे पुकारें। उसे लगा कि इसी दुर्दशा में उसका अन्त होगा। वह सालों एक गन्दी खाट पर अर्ध जीवित शव की तरह पड़ी-पड़ी मौत की घड़ियाँ गिनती रहेगी, हाथ-पैर बिलकुल सुन्न...बेकाम। प्यास के मारे उसका गला सूखता रहेगा पर कोई बूंद पानी देने नहीं आयेगा...लोग नाक भौं

सिकोड़ कर सामने से निकलते हुए कहेंगे...'मरती भी नहीं यह बुढ़िया !' और वह इसी घिनौनी खाट पर असहाय पड़ी रहेगी...पड़ी रहेगी—

सोचते-सोचते उसका रोम-रोम सिहर उठा और वह अस्फुट स्वर में कह पड़ी...*'नहीं ! नहीं !...यह लकवा नहीं है...अभी नहीं'...*

उसने सुना था कि पक्षाघात के बाद उस अंग को चाहे काट भी डालो बिलकुल दर्द नहीं होता। उसने पागलों की सी फुर्ती से हाथ को मुंह में डालकर दबाया, लेकिन उसके मुंह में एक भी दाँत नहीं थे। हार कर उसने हाथ को ज़मीन पर दे मारा। हाथ की हड्डी ज़मीन से टकराई और उसमें तेज़ दर्द हुआ। बुढ़िया ने पुलकित हो कर अपने पैरों और टाँगों में चुटकियाँ काट कर देखा—सारे दर्द हुआ। उसने संतोष की साँस ली। नये साहस के साथ उसने एक हाथ से खाट का पाया पकड़ा और दूसरे से दीवार का सहारा लेकर उठने की चेष्टा की। धीरे-धीरे वह उठकर बैठ गई और दोनों हाथों से खाट पकड़ कर खड़ी हो गयी। पानी पीने जाने का विचार छोड़कर वह चुपचाप बिस्तरे पर बैठ गयी। कुछ देर इसी तरह बैठे रहने के बाद उसने लिहाफ खींच कर पैरों पर डालते हुए बच्चों की सी सरलता के साथ मुस्करा कर बड़े आश्वस्त स्वर में अपने को समझाते हुए कहा, 'कुछ भी तो नहीं हुआ था—मैं बेकार ही डर गई।'

रांगेय राघव

पर्वत ऊँचा था, चोटी चौड़ी थी, पर ढलान सीधी नहीं थी। ऊबड़-खाबड़ पत्थरों पर कोई भी चढ़ सकता था और उतर सकता था। पत्थरों के बीच-बीच में पेड़ उगे हुए थे, वही जो कि छाया करते थे, हवा से हिलते थे। नीचे की उभरी चट्टानों के ऊपर एक फैली चट्टान थी, जिसने अपनी जीभ को हवा में निकाल दिया था। उसके कोने पर खड़े होकर झांकने से नीचे छोटी सी मगर तेज़ नदी दिखाई देती। और कभी-कभी वहाँ ऊपर वालों को कुछ आदमी चलते नज़र आते। पर वे एक दूसरे से मिले नहीं थे। उधर सीधे उतर जाने का रास्ता नहीं था। घूम कर वन में घुसना ही आवश्यक था, और वन का अन्त किसी ने नहीं पाया था। जब ऊपर आग जलती, तो कभी-कभी घने अन्धकार के समय नदी के किनारे पर भी एक प्रकाश का छोटा सा कांपता सा जुगनू दिखाई देता। ऊपर वाले नीचे की ज्योति देखते और नीचे वाले ऊपर की। परन्तु वे एक दूसरे के पास नहीं जा पाते थे। कभी-कभी गुफा के पास ही से कोई हिंस्र पशु डकराता निकलता और वह गुफा में भी घुसने की चेष्टा करता, पर उसे पत्थर के ढोंके पड़े हुए मिलते और वहीं उसे आग जलती दिखाई देती। वह भाग जाता।

दुपहर ही चली थी। एक व्यक्ति एक कोने में पड़ा था। संभवतः उसे बुख़ार था। पर वह समझ नहीं पा रहा था। इसी समय एक स्त्री ने एक ढोंका सरकाया और भीतर आ गई। उसने देखा पुरुष चुपचाप आँख मूंदे पड़ा था। वह आई और उसने गर्मी से ऊब कर अपने कंधे पर पड़ा चमड़ा उतार कर एक ओर फेंक दिया। अब वह नग्न हो गई। उसके गले में तरह-तरह के खूबसूरत पत्थर एक पेड़ की छाल के रेशे को बट कर, उसमें पोये पड़े थे। कटि पर उसके कपास का वस्त्र पड़ा था, जो कि बहुत ही भद्दा था।

उसने पास, आकर उस पुरुष को पाँव से हिलाया। पुरुष जागा।

उसने देखा और अपने मुख पर फूटती मोछों के रोयों पर हाथ फेर कहा : 'क्या चीरा ?'

चीरा उसके पास बैठ गई। वह लगभग सत्ताइस वर्ष की स्त्री थी और बड़ी स्वस्थ थी। उसने पुरुष की देह छुई तो अकस्मात ही जैसे उसे झटका लगा। उसने हाथ हटा लिया।

'तू !' उसने कहा 'तू !'

'क्या ?' पुरुष ने फिर कहा।

'तेरे आग जल रही है।'

'कहाँ ?'

'तुझ में।'

पुरुष ने उसकी कमर में हाथ डाल कर उसे पास खींच लिया और कहा: 'चीरा' !

चीरा ने कहा: 'न्वार गया यूँ ही !'

न्वार उसका बेटा था। उसे भी बुखार आया था। वह भी देही तपने पर मर गया था।

'कहाँ गया ? पुरुष ने पूछा।

स्त्री ने उसके वक्ष पर अपना वक्ष लगा कर ऊष्मा का अनुभव किया और कहा: 'न्वार भी मैंने ऐसे देखा था तार !'

तार सँभला। पूछा 'वह भी आग से मर गया था।'

'हाँ !'

'धुआँ निकला था।'

'नहीं।'

'फिर कैसी आग ?'

चीरा हटने लगी। तार ने उसे भुजाओं में बाँध लिया। कहा: 'रुको !'

'क्यों ?'

'गरम गरम में ठंडा ठंडा अच्छा लगता है।'

चीरा बगल में लेट गई। दोनों चिपके रहे।

चीरा ने कहा : 'आग में पानी डालने पर आग को भी अच्छा लगता होगा।'

'शायद।'

'धो डाल दूँ।'

'नहीं ।'

'क्यों ?'

'फिर हाहे आयेगा, डंकार आयेगा ।'

स्पष्ट ही यह दोनों शब्द ध्वनि पर रखे गये थे। हाहे साँप का नाम था, क्योंकि उसे देख कर भय से यही शब्द मुँह से निकल जाता था और डंकार सिंह के लिए था क्योंकि वह डंकारता था। दोनों ही भयानक थे और आग से भाग जाते हुए पाये जाते थे। चीरा ने कहा : 'ठीक। आयेगा। मारेगा। खायेगा। खून पियेगा। फिर जायेगा।'

'फिर ?' तार ने कहा।

'फिर क्या ?'

'तू कहती थी ।'

'क्या ?'

'ग्वार गया था ।'

'हाँ गया था ।'

'कहाँ गया था ।'

'पहाड़ों के पार ।'

'कैसे ?'

'नहीं मालूम ।'

'तूने देखा ?'

'नहीं ।'

'फिर कैसे मालूम ?'

'बूढ़ी तमन कहती थी ।'

'क्या ?'

'जाता था ।'

'और हाहे का काटा भी जाता है ।'

'जाता है ।'

'डंकार का मारा ।

'हाँ, जाता है ।

'कैसे जाता है ?'

'नहीं मालूम ।'

चीरा सोचती रही। तार ने कहा—'जाता है, तब दर्द नहीं होता। जलने पर रोता नहीं। ठंड नहीं। गर्मी नहीं।

'नहीं!'

'क्यों?'

'जाता है!'

बुखार तेज़ था। तार चुप हो गया।

इसी समय पत्थर का एक ढोंका हटाकर एक युवक भीतर आया। उसके साथ एक स्त्री थी। वह थी लगभग अठारह वर्ष की। युवक तीस वर्ष के करीब था। उसके मुख पर दाढ़ी थी। युवक ने अपना पत्थर का भाला एक ओर गुफा की भीत से टिका दिया और युवती ने अपने कंधे पर रखा मरा खरगोश उतार लिया।

'काबूस!' चीरा ने कहा।

काबूस जमीन पर बैठ गया। उसने खरगोश हाथ पर उठाकर कहा—'हुचका ने मारा।'

हुचका बैठ गयी। फिर अपनी कोहनियाँ टेक कर लेट गयी और उसने एक पाँव पर दूसरा उठा कर रख लिया, जिससे उसके कंधे पर पड़ी खाल आगे खिसक आयी और उसका पीछे का धड़ खुल गया।

'काबूस' हुचका ने कहा।'

'क्या!'

'नीचे घास डाल दे मेरे।'

काबूस ने घास डाल दी। हुचका लेट गयी।

चीरा ने कहा: 'खरगोश!'

'इसने बहुत-दौड़ाया!' काबूस ने कहा। उसे पसीना आ रहा था। चीरा ने उसके कंधे पर पड़ी खाल उठा ली और वह नग्न हो गया। कटि पर ही वस्त्र बचा रहा। चीरा ने कहा: 'मोटा है।'

हुचका ने कहा 'मैंने पत्थर से मारा।'

'ज़ोर लगा।' काबूस ने कहा।

चीरा ने दोनों कान पकड़ कर खरगोश को उठा लिया और हंस दी। फिर उसने उछाल कर उसके उछलने की, कूदने, गिरने की नकल की। तार मुसकरा दिया। वह उठी और पत्थर का चाकू ले कर उसकी खाल उतारने लगी

काबूस ने हुचका की ओर देख कर कहा: 'थक गयी ?'

'हाँ ।' हुचका ने कहा । फिर उसने तार की ओर देखा ।

'सोता है ?' पूछा ।

'इसमें आग जल रही है ।' चीरा ने कहा ।

'ज्वार में जली थी !'

'हाँ ।'

'यह जायेगा ?'

'हाँ ।'

'कहाँ ।'

'पहाड़ों के पार ।'

हुचका उठी और उसने अपने शरीर को उसके शरीर से लगा कर कहा: 'ज्वार जैसा है ?'

'हाँ ।'

'गरम ।'

'हाँ ।'

'आग जैसा ।'

'हाँ ।'

'पर जलाती नहीं ।'

'इसमें धुआँ जो नहीं ।'

'पानी ।' तार ने कहा ।

काबूस उठा । वह पत्थर के एक गोल टुकड़े में पानी लेने चला गया । पानी का झरना दूर नहीं था । गोल टुकड़ा पत्थर के नुकीले टुकड़ों से चोट दे दे कर गहरा किया गया था ।

चीरा बाहर चली गयी ।

हुचका ने तार के शरीर से अपना शरीर चिपका लिया और लेट गयी । वह शायद ऊंघने लगी । तभी बाहर भयानक चीत्कार सुनाई दी । तार बुखार में भी झटपट उठा और उसने एक पत्थर का भाला उठा लिया और ठोकर देकर उसने पुकारा : 'हुचका !'

बाहर अभी चीत्कार और हुंकार सुनाई दे रही थी । हुचका ने तुरन्त हाथ बढ़ाया और एक बहुत नुकीला पत्थर हाथ में उठा लिया और उसके साथ बाहर भागी । वे पहाड़ पर चढ़ने लगे । पेड़ों की आड़ में से उन्होंने देखा-भाले

पर शेर खड़ा था। ऊँची चट्टान पर दाईं ओर काबूस था और चीरा खड़ी थी और दोनों बराबर उसको पत्थर मार रहे थे। शेर दहाड़ता था और क्रोध से उछलता था। और उन दोनों के पास पहुँचना चाहता था, परन्तु यह मुश्किल था, क्योंकि चट्टानों की चढ़ाई उस ओर ऊँची थी और शेर घूम कर आ सकता था।

तार और हुचका ने देखा। फिर वे भारी वाली चट्टान पर पीछे की ओर से चढ़ गये। फिर वहाँ से वे भी पत्थर के ढोंके ढुलकाने लगे। शेर ने देखा, दुश्मन बढ़ गये थे। उसी समय तार, चीरा और हुचका ने एक बहुत बहुत बड़ा पत्थर मिलाकर, ज़ोर लगा कर, नीचे गिरा दिया। वह शेर के ऊपर ही गिरा। शेर उस भारी चट्टान के नीचे भयानक गर्जन करके दब गया।

'गया !' तार ने कहा।

'गया।' चीरा ने कहा।

'कहाँ गया।'

'पहाड़ों के पार !'

'यह भी ?'

'हाँ।'

'नीचे चलो।'

'नहीं।'

'क्यों ?'

'अभी मरा नहीं है तो खायेगा।'

'फिर ?'

हुचका ने कहा : 'देखो। वह देखो।,

देखा। हिरनों का झुंड दूर चरता हुआ दिखाई देता है।

हुचका ने पुकारा : 'काबूस !'

'हुचका।' काबूस ने कहा।

'दौड़ कर एक पकड़ना है।'

'क्यों ?'

'जिंदा ही।'

'क्यों ?'

'तू देख !'

वह भागी। तार खड़ा रहा। चीरा दूसरी ओर से गई, तीसरी ओर से काबूस भागा।

हिरनों में खलबली मच गई। तीन तरफ से हमला देखकर हिरनों का सरदार क्षण भर ठिठुरा। फिर पूरा झुन्ड एक ओर छलांग लगाकर भाग चला। उसकी गति बहुत तीव्र थी। वह तीनों भी कम तेज़ नहीं भाग रहे थे। अन्त में चीरा ने एक हिरनी की टाँग पकड़ी और तेजी से कुछ दूर तक हिरनी के साथ घिसटती रही। तभी हुचका तथा काबूस ने हिरनी को धर दबाया।

हुचका ने हिरनी की दो टांगें तोड़ दीं जिससे वह भागने लायक न रही। वह चिल्लाती रही। परन्तु हुचका ने उसे शेर के सामने फेंक दिया। वह निश्चित करना चाहती कि सिंह मर गया या नहीं। अगर उसमें ज़रा भी जान हुई तो वह हिरनी को देख कर जरूर कुछ न कुछ हिलेगा। उससे पता चल जायेगा कि उसमें कितनी ताक़त बाकी है।

हिरनी जाकर झट से शेर के सामने गिरी, और गिरने से उसकी अगली दो टाँगें भी टूट गईं। वह दर्द से बुरी तरह कराह उठी। उसके मुँह से ख़ून गिरने लगा। शेर जरा भी नहीं हिलडुला। वह मर चुका था।

चारों के मुख से एक हर्ष की ध्वनि निकल पड़ी। तार बैठा रहा। बाकी तीनों तेज़ी से नीचे उतरने लगे। जब तक वे तीनों दिखाई नहीं दिये, तार झुक कर शेर तथा हिरनी पर नजर गड़ाये बैठा रहा। उसने देखा कि चीरा सबसे पहले वहाँ चट्टान घूम कर उतरी और उसके पीछे काबूस और हुचका भी थे। उन्होंने प्रसन्नता की किलकारी मारी। आनन्द में चीरा ने काबूस को छाती से लगा लिया। और उसका कंधा काट लिया। हुचका ने उसकी पीठ पर एक प्रसन्नता का घूँसा मारा और कहा: 'चल ले चलें।'

उन्होंने पत्थर को सरकाना शुरू किया। बहुत ज़ोर लगाने के बाद पत्थर खिसक सका। तब देखा! शेर की हड्डियाँ टूट गई थीं और उसके पेट से ढेर ढेर रक्त बह रहा था। काबूस ने कंधे पर हिरनी को रख दिया और वह दोनों शेर को घसीट कर पहाड़ पर चढ़ने लगे। उन्हें ऊपर पहुँचने में बहुत देर लगी। ऊपर तार ने भी हाथ बँटाया और चारों फिर गुफा में पहुँच गये।

तार लेट गया। चीरा ने बैठ कर हिरनी को ख़रगोश के पास रखा और फिर उसकी खाल उतारने लगी।

काबूस शेर को देख रहा था। उसने चाकू उठाकर धीरे धीरे पैने पत्थर की धार से घिस घिस कर उसका एक लम्बा नाखून निकाल कर ऊपर उठाया।

और अचानक ही उसे यह सूझा कि शेर इसी से दूसरे जानवर को फाड़ देता है। उसने सबसे पास देखा। हुचका की जांघ थी। उसने उसका प्रभाव देखने को सिंह का नख उसकी जांघ में चुभा दिया।

हुचका दर्द से चिल्ला उठी। काबूस हँसा! हुचका ने उठकर उसके सिर में हाथ मारा। काबूस हँसता रहा, तब चीरा और तार चौंके। तब हुचका ने कहा : 'क्या बात है?'

'यह देखा!' काबूस ने कहा।

'हाँ।' चीरा ने पूछा।

'चुभता है तो दर्द होता है। जोर से गड़ेगा तो फाड़ देगा। मैं इसमें छेद करके इसको पहनूँगा और दुश्मन को मारूँगा।'

'इसमें छेद कैसे करोगे?' हुचका ने कहा।

'यह तो छोटा है।' चीरा ने कहा।

काबूस सोच में पड़ गया।

तार ने कहा : 'बुड्ढे मद्गु को दे। वह बैठा बैठा कर देगा। यह धीरे का काम है।

'ठीक है।' काबूस ने कहा।

हुचका ने लेट कर तार के पेट पर सिर रख लिया। और जब उसकी पीठ के ऊपर का भाग उसके पेट से लगा तब वह चौंक उठी।

'क्यों?' तार ने पूछा।

'तू भीगा है, क्यों?'

'पसीना है।'

'तू तो ठंडा है।'

'हाँ।'

'अब तू आग में जल नहीं रहा है न?''

'नहीं तो?'

चीरा ने छुआ। काबूस ने भी।

'चली गई आग।' काबूस ने कहा।

'हाँ।' तार ने कहा।

'देख तो', चीरा ने कहा—'ज्वार चला गया, पर तार नहीं गया।'

'क्यों नहीं गया मैं?'

'क्या मालूम?'

'फिर न्वार क्यों गया ?'

'वह तो जलता ही गया।'

'तूने देखा था।'

'खूब छाती से लगाये पड़ी थी। उसके मुँह में स्तन देती थी, पीता न था। दूध भी छोड़ दिया था उसने।'

वह कुछ विषण्ण सी लगी। जैसे स्मृति कुछ भारिल हो गई थी।

'तू रोई थी उसके जाने पर।' तार ने कहा।

'हाँ।'

'क्यों ?'

'मन करता था। अच्छा लगता था।'

'बहुत अच्छा लगता था।'

'हाँ।'

'पर तेरी आग तो चली गई।'

'हाँ। पर मैं नहीं जाऊंगा।'

'तू अच्छा है।' चीरा ने कहा। 'तू अच्छा है।'

'मैं अच्छा नहीं हूँ ?' काबूस ने पूछा।

'क्यों ? तू क्यों अच्छा नहीं है ?' चीरा ने तर्क किया।

'तूने उससे कहा, और मुझसे न कहा।'

'नहीं तू भी अच्छा है।'

'अच्छा' काबूस ने कहा 'मैं डंकार की खाल उतारूंगा।'

चारो बैठ कर शेर की खाल उतारने में लग गये। बड़े नाखून वाली अपनी उंगलियों से, पत्थर के चाकू से, वे उसे छीलते गये और अंत में खाल उतर आई। गीली थी।

'इसको आग के पास डाल दे', काबूस ने हुच्चका से कहा, 'धीरे-धीरे सूख जायेगी।'

हुच्चका ने ऐसा ही किया और उस पर पाँव रखकर खड़ी हो गई। उसने अपने पेट पर हाथ फेरा और फिर दोनों ने हाथ उठाकर अंगड़ाई ली और कहा :

'इसका मांस बेकार है।'

'क्यों ?' तार ने कहा।

'कौन खायेगा ?'

'तू लकड़ी बीन ला। आग को खिला देंगे सब। आग भूखी है न।'

'ठीक, ठीक' हुचका ने कहा। वह दौड़ कर निकल गई। शीघ्र ही कंधे पर धर कर जंगल की लकड़ियां ले आई और सुलग ही रही थी, उसमें डालकर धधका दी। फिर शेर के टुकड़े टुकड़े कर दिये गये। जब चरबी और मांस जलने लगा तो तार ने कहा—'यह आग प्रसन्न होगी हमसे ?'

'क्यों कर ?' हुचका ने पूछा।

'यह डंकार की दुश्मन है न ?'

'वह इससे डरता तो है।'

'आज फिर यह खुशी होगी न ?'

'बहुत।'

'आग चलती है।'

'आग कहां चलती है ?'

'हिलती है बढ़ती नहीं।'

'आग का पाँव कहाँ है ?'

'आग का हाथ है, पाँव है, कान है, मुँह है,' तार ने कहा—'पर वे सब हमें दीखते नहीं।'

'सो तो है।' चीरा ने कहा।

'दिखता नहीं।'

काबूस ने इस बीच में शेर की अगली टांग की मजबूत हड्डी निकाल ली थी। उसने उसे पकड़ कर घुमाया और हिरनी के देह पर जोर से मारा, जैसे कोई डंडा मारा हो। मजबूत हड्डी की मार से हिरनी की पसली चटक कर टूट गई।

काबूस ने कहा—'यह देखो। यह नया हथियार है। कैसा ज़ोर का है! है न ?'

'बहुत अच्छा है।' चीरा ने कहा।

हुचका ने कहा—'बच्चे कहां हैं ?'

'सब गये हैं !' तार ने कहा।

'किधर !'

'जंगल में शिकार को !'

'किस तरफ ?'

'जिधर से सूरज कहीं छिप जाता है।'

'तूने देखा कहाँ जाता है वह ?'

'हाँ मैं पहाड़ पर चढ़ गया था। ऊपर-ऊपर। वहाँ से मैंने देखा।'

'क्या देखा ?'

'यही कि यह कहाँ जाता है !'

'तूने देखा ?'

'क्या देखा ?'

'वह कहीं चला जाता है।'

'पहाड़ के पीछे ?' काबूस ने पूछा।

'हाँ वह उतरता है।'

'कैसे ?'

'जैसे, जैसे...पक्षी उतरता है।'

'इसके पंख हैं।'

'हैं।'

'तूने देखा ? मेरी तो उधर आँख भी नहीं ठहरती।'

'पर मैंने देखा था।'

'बता तो।'

'काला बादल एक बार आया था और इसकी ओर बढ़ने लगा था।'

'फिर ?' चीरा ने कहा।

'मैं था मदूग था, तमन थी।'

'हाँ।'

'यह बादल फाड़ कर भागने लगा और इसके पंख चलते दिखाई दिये।'

'हाँ।' चीरा ने कहा—तमन कहती थी जब वह जवान थी तब एक बार सूरज कुछ देर को चमकते-चमकते काला सा पड़ गया था, सब जगह अंधेरा सा छा गया था।'

तार सोचने लगा।

चीरा ने कहा : 'भूख लगी है।'

'अब आते होंगे सब।' तार ने कहा।

'माँ आती होगी।'

'हाँ।'

'हिरन और खरगोश देखकर बड़ा मजा आयेगा।''

'हाँ' चीरा ने कहा।

तार उठ खड़ा हुआ।
उसने कहा !—'हुचका !'
'हाँ।'
'मुझे प्यास लगी है, मैं पानी पीता हूँ।'
वह गुफ़ा से निकल गया।
'मैं भी चलती हूँ।' हुचका ने कहा।
वह भी उसके पीछे चल दी।
चीरा ने कहा : 'काबूस !'

काबूस पास लेट गया। चीरा उससे सट गई। काबूस ने उसे अपनी भुजाओं के पाश में समेट लिया। चीरा ने कहा : —'तू अच्छा है। मुझे तार से तू अच्छा लगता है।'

जब तार और हुचका पानी पी चुके। हुचका ने कहा : 'तू गुफ़ा में चलेगा ?'
'हाँ।'
हुचका ने पत्थर पर लेट कर कहा : 'तार !'
'हाँ।'
तार समीप बैठ गया। फिर उसने उसके केशों को प्रेम से सहलाया। हुचका हँस दी। तार ने उसके कंधे पर पड़ी खाल को खोल दिया और उसके शरीर को सहलाने लगा। दोनों वहीं बातें करते रहे।

इसी समय कुत्तों की भौंकने की आवाज़ आने लगी और वह कर्कश ध्वनि सुनकर तार ने कहा : 'सब लोग शायद आ गये।'
'हाँ।' हुचका ने कहा। और अपने कंधे पर खाल उठाकर डाल ली और गुफ़ा की ओर चल दिया।
शाम हो चली थी। आकाश में सूर्य अस्ताचल की ओर चला गया था। और अब पक्षी उड़ते हुये झुंड के झुंड लौट रहे थे। उनके कलरव से समस्त कान्तार गूँज रहा था। अंधकार की परतें अब पहाड़ों पर सरकने लग गई थीं।

दोपहर : नदी स्नान

विजयदेव नारायण साही

यह तुम्हारा छलछलाता, प्रखर, निर्मल प्यार,
छिछली नदी सा;
और मेरा डूब जाने का विफल आवेग
मन में कसमसाता ज्वार !

दीखता है तल
परिष्कृत बालुका के स्वच्छ, भीगे कण
सरकते,
तृप्त पैरों तले ।

गुनगुना आलोक मेरे खुले रन्ध्रों से निकल कर दौड़ता है,
और मैं थिर हूँ ।
जल-विहग सी हवा मेरा शीश छूकर भागती है,
और मैं थिर हूँ ।
उफनता जल भीजता है आह ! मेरा अधखुला अस्तित्व—
और मैं थिर हूँ ।

शरद-निर्मल धूप, निर्मल हवा, निर्मल दो किनारे
चमकती, स्नेहार्द्र बाँहों से;
आह ! जो कुछ मुझे घेरे है
सतत आवर्तनों के बीच —
कटि को नीर,
छाती को गगन,
वैजयन्ती से फरकते केश को वातास—
निर्मल है,
स्फटिक है, अमिताभ है, ऋजु है ।

किन्तु ओ ममतालु,
दौड़ आया हूँ यहाँ तक
आत्म-विस्मृत, तपःपूत, विभोर,
अपने खुलेपन से ही प्रताड़ित, विद्ध;
चारों ओर उच्छल नीलिमा से घिरी
मेरी डूब जाने की अलौकिक प्यास
मुख से निकल
स्वर्गिक, मुग्ध औ' असमर्थ बाँहों की विरलता बीच
बिछती जा रही है।

सुनो
    ओ सलिला,
तुम्हारे हृदय की तलवासिनी यह रेत
मुट्ठी में उठा
तप्त मस्तक से लगाकर,
        माँगता हूँ।

    ओ सहेली,
यह तुम्हारी त्वचा पर
किलकारती, मोहित भँवरियाँ,
स्थिर हथेली में उठा
रक्ताभ नयनों से लगाकर,
        माँगता हूँ।

    ओ अनावृत सर्पिणी,
यह तुम्हारी खिलखिलाते बुद्बुदों में
तारशोधक अम्ल सी अवदात विष की बूँद,
अपनी शुभ्र अंजलि में उठा
अभिजात अधरों से लगाकर,
        माँगता हूँ।

दो मुझे :

वह बेरा

जिससे थाह की यह सालती अनिवार्यता मिट जाय,

वह शोध

जिसमें यह उछलता भँवर ठहरे, ठहर कर फट जाय,

दो मुझे :

वह मंत्र

जिससे यह तुम्हारा सरल, पहला ज़हर

तल को काट दे,

गहरा बना दे,

और मुझको सोख ले।

यह तुम्हारा छलछलाता, प्रखर, निर्मल प्यार,

और मेरा डूब जाने को उमगाता ज्वार !

हम स्वप्नदर्शी हैं

मलयज

हम स्वप्नदर्शी हैं।

कुहरे औ' धुएँ से ढकी

दुखती चेतना की भूमि, जो बंजर,

हम उसमें ही

सपनों की शाद्वल उजियारी बिखराते हैं।

विवश हम, रुग्ण हम, जर्जर औ' त्रस्त हम—

जीवन में युग के उत्पीड़न का [illegible] पाले,

देह-मन-प्राण से टूटे

बस नरसल की पोली-सी बाँसुरी,
जिसमें से होकर
हवा का हर झोंका, हर लम्हा
अपनी ही कहता-सा जाता है—
अपने गलित अंगों पर
सपनों का मरहम लगाते हैं
(बज्राहत, निकम्मे ये अंग
जो होकर भी अपने नहीं आज हमारे !)

लेकिन घृणा भरे विद्रूप से मुँह अपना
मत मोड़ो
मत सोचो
कृमि-से दीन-हीन, कायर, पलायन के दूत हम

हम स्वप्नदर्शी हैं पर जीवनदर्शी भी हैं।

जो इन सपनों की सरिता को
अपने उच्छ्वासों की गर्मी से भाप-सा उड़ा दे
वह सूर्य नहीं;
क्योंकि इस सरिता का जल
शान्त, श्लथ, मुर्दा 'जल' मात्र नहीं,

है वह हमारे प्राणों का उष्ण रक्त
जो उफनता है, चलता है,
गाता, गुनगुनाता है,
दहता है,—बाधा से जूझ-जूझ लड़ता है,
पथ की चट्टानों को काट-काट
मन के अनुरूप उन्हें गढ़ता है।

हम स्वप्नदर्शी हैं
और स्वप्न यह देखते हैं
कि बेले की नन्हीं पँखुरियों से स्वप्न ये
युग के धृतराष्ट्र की आँखों में

जीवन के मूल्य नये
दीप्तमान अर्थों की ज्योति-रेख खींचेंगे,
स्वप्न सत्य होते हैं
करके दिखायेंगे......

●

चक्रव्यूह

श्रीराम वर्मा

●

मेरा बाप अर्जुन नहीं था;
मेरी माँ सुभद्रा नहीं थी
और मैं भी अभिमन्यु नहीं हूँ !

फिर यदि मैंने अपनी माँ के गर्भ में ही
वीरता भरी रहस्यमयी कहानियाँ नहीं सुनी,
तो मेरा क्या दोष ?

यदि इतने पर भी मुझ अबोध को
दुर्भेद्य चक्रव्यूह में फाँस दिया गया है
तो, ऐ मेरे धैर्य के परीक्षक भविष्य !
मैं तुमसे अनन्त हिरण्य-उषाओं की
साक्षी देकर कहता हूँ—

कि मैं इस दुर्भेद्य को भी भेदूँगा;
पार करूँगा;
और एक दिन निश्चय ही राह—
मेरे चरन तले आयेगी—
चाहे देर भले ही लगे !

क्योंकि

मेरी आत्मा—
अर्जुन से भी अधिक ऋजु है;
सुभद्रा से भी अधिक धारणशीला है;
और अभिमन्यु से भी अधिक श्रुतिधर्मा है !
क्योंकि मैं वर्तमान को अपना छोटा भाई
मानता हूँ !
जिसे मैं जिधर चाहूँ मोड़ सकता हूँ
और उसे अपने प्यार के सहारे दिव्य और भव्य
बना सकता हूँ !

यह विराट् चक्रव्यूह—
उस इकलौते भाई की नूतन पाठशाला है !
और मैं उसका अकेला अध्यापक हूँ !
लेकिन मैं झूठ नहीं बोलता—

सच,
मेरा बाप अर्जुन नहीं था
मेरी माँ सुभद्रा नहीं थी
और मैं भी अभिमन्यु नहीं हूँ !
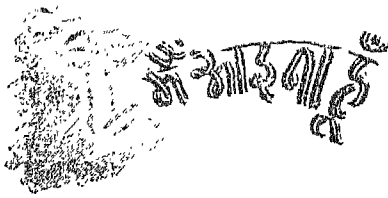
लक्ष्मीनारायण लाल

पात्र

शिवचंद (शीबू) उम्र प्रायः चौबीस वर्ष

लक्ष्मीचंद, शीबू का बड़ा भाई, तीस वर्ष के लगभग

पिता जी, उम्र प्रायः पचास वर्ष

डाक्टर जैन, उम्र प्रायः पचपन वर्ष

परकाश, शीबू का मित्र

पुलिस-अफसर, नौकर कम्पाउन्डर तथा एक डाक्टर ।

[डाक्टर जैन के बैठने का कमरा । उनके बैठने की कुर्सी के सामने एक मेज है, जिसके आस पास कुल पाँच कुर्सियाँ और रखी हैं । मेज पर और कमरे में रखे हुये डाक्टरी सामान और दीवारों पर टँगी हुई तस्वीरों और मेडिकल चार्टों से यह स्पष्ट है कि डाक्टर जैन का स्तर ऊँचा है ।

कमरे से दायीं ओर का दरवाज़ा डिस्पेंसरी और आपरेशन रूम का है । दरवाजे पर पर्दा पड़ा है ।

कमरे के पीछे दो दरवाज़े हैं, जो घर में खुलते हैं । इन पर भी पर्दे पड़े हैं । दिसम्बर के दिन हैं, और रात के दस बजने वाले हैं ।

जब पर्दा उठता है, डाक्टर यह कमरा बिल्कुल सूना पड़ा है । सहसा दायीं ओर से डाक्टर निकलता है । उसी समय पीछे के दरवाज़े से—अर्थात् भीतर से नौकर आ डाक्टर को एक कप कॉफी दे जाता है । ज्योंही नौकर घर में जाता है; दायीं ओर से दीवार के सहारे शीबू आता है । सर, बाँह और सीने पर पट्टी बँधी है ।]

डाक्टर. (जैसे ही शीबू पर दृष्टि पड़ती है) यह क्या है ? यहाँ क्यों चले आये ? चलो यहाँ से...जाओ भीतर... ।

शीबू. (मेज के पास आकर) डाक्टर !...(देखता रह जाता है) !

डाक्टर. क्या है ?...बोलो...क्या है ?

[शीबू रो पड़ता है । डाक्टर उसे सम्हालकर पास के गद्देदार काउचनुमा सीट पर बिठा देता है ।]

शीबू. डाक्टर !

डाक्टर. काफी पियोगे ?

शीबू. (सिर हिलाता है)...मुझे जीना नहीं है !

डाक्टर. यह हमारे वश की बात नहीं ! (कप खाली कर के) तुम्हारे वश में केवल यही था कि तुमने अपने ऊपर पिस्टल चला ली—लेकिन मौत तुम्हारे वश में नहीं । (रुककर) यह उसी के वश में है, जो हम सब को जिलाता है । (हँस पड़ता है) ईश्वर है वह !

शीबू. (चुप है)

डाक्टर. (मुस्करा कर रह जाता है ।)

शीबू. (एकाएक खड़ा हो जाता है) तो तुमने मुझे जिला लिया ! अब तुम मुझे नहीं मरने दोगे ?

डाक्टर. (उसे देखता हुआ चुप है)

शीबू. (कटुता से) नहीं मरने दोगे ?

डाक्टर. जाओ सो जाओ ! अभी तुम्हें खूब आराम करना चाहिये !

शीबू. मैं जेल तो जाऊँगा न !

डाक्टर. वह क्यों ?

शीबू. आत्महत्या जो कर रहा था !

डाक्टर. (मुस्करा कर सर हिलाता है)

शीबू. तो तुम लोगों ने पुलिस को भी धोखा दे दिया (रुक कर) झूठ, धोखा और तुम सब, और यह बेमानी ज़िन्दगी ।

डाक्टर. सो जाओ अब ! चलो, मैं तुम्हें अब सुला देता हूँ !

शीबू. जैसे सो जाना कोई खेल है, जब चाहा तब सुला लिया । बड़े भाग्य से नींद आती है !

डाक्टर. ईश्वर के नाम पर सो जाओ !

शीबू. उसके नाम पर तो मैं मरना चाहता था ।...मरना चाहता था ।

[दो चार कदम इधर उधर डोलकर वह पीछे—दोनों दरवाजों के बीच में खड़ा हो जाता है—स्थिर मूक और निस्पंद ।]

डाक्टर. उठ के यहाँ बैठो ! चलो । (उठकर पास जाता है) यूँ नहीं खड़े रहते । (लाकर फिर उसी सीट पर बिठाता है) क्या है ?......क्या सोच रहे हो ?...अब नहीं बोलोगे ?...अच्छा है न बोलो...बोलने से प्राणशक्ति नष्ट होती है !...अच्छे लड़के हो । अच्छा, अब सो जाओ ! यहीं सो जाओ ! (उसे सुलाने लगता है; पर शीबू जड़वत् बैठा रहता है ।) लेटोगे नहीं ? यूँ ही चुपचाप बैठे रहोगे । (रुक कर) कब तक इस तरह बैठे रहोगे ?...अच्छा, कुछ बोलो ही ! चलो, बातें करें !...बोलो शिवचन्द !...शीबू !

[शीबू पत्थर की मूर्ति जैसा डाक्टर को अपलक देख रहा है, धीरे-धीरे स्टेज की सारी रोशनी गायब हो जाती है । क्षण भर बाद जब धीरे-धीरे प्रकाश लौटता है, तब डाक्टर के पास शीबू के पिता जी—रायसाहब चिंता में डूबे बैठे मिलते हैं । पास ही लक्ष्मीचंद खड़ा है । दृश्य में शीबू नहीं है ।]

डाक्टर. लेकिन यह मुझसे तो बातें कर रहा था !

पिताजी. (अतुल जिज्ञासा) क्या कहता था ?

डाक्टर. बस; कुछ ही शब्द !

[सब चुप होकर शीबू को निहारते रह जाते हैं ।]

पिताजी. मेरे भाग्य का ही सारा दोष है डाक्टर साहब !

लक्ष्मीचंद. इसमें भाग्य की क्या बात ! शीबू नहीं बोलता, न बोले ! देखें, कब तक वह चुप रह लेता है !

पिताजी. तीन दिन तो हो गये ! क्यों नहीं बोला अब तक ?

लक्ष्मीचंद. सरासर बदमाशी है उसकी । पूरे घर को इस तरह तबाह करना चाहता है ।

पिताजी. मत बोलो लक्ष्मीचंद...ऐसा न बोलो ।

लक्ष्मीचंद. तो मैं भी चुप हो जाऊँ शीबू की तरह ?

पिताजी. नहीं, मुझे भी चुप कर दो !

डाक्टर. इस तरह लड़ने से कोई फायदा नहीं ! अच्छा तो यह होता कि हम सब मिलकर किसी तरह यह पता लगाते कि वह चुप है क्यों ?

लक्ष्मीचंद. यह तो वही जाने डाक्टर साहब ! कौन जान सकेगा उसे ! (परेशान-सा) समझ में नहीं आता, आजकल के ये लौंडे हैं क्या ! गूँगे के गुड़—पता नहीं क्या है ।

पिताजी. यूँ न बोलो लक्ष्मीचंद। शीबू चुप है—कुछ नहीं बोलता, लेकिन वह चेतन तो है—हमें सुन रहा है वह, देखता भी है!

डाक्टर. यही तो मुसीबत है!

लक्ष्मीचंद. कुछ भी नहीं है। मेरा वश चले तो मैं मिनटों में शीबू को चिल्लवा दूँ—बोलने को कौन कहे।

डाक्टर. लेकिन चिल्लाने और बोलने में फर्क है लक्ष्मीचंद!

लक्ष्मीचंद. अभी बोलने लगे—कस-कस कर चार बेंत मारें बस, तूती बोल उठे!

डाक्टर. (बिगड़ जाता है) मैं कहता हूँ चुप रहो...चले जाओ यहाँ से। कोई जरूरत नहीं है—चले जाओ!

लक्ष्मीचंद. मैं ख़ुद जा रहा हूँ। मेरे पास इतनी फ़ुर्सत ही कहाँ जो यह झूठ-मूठ का नाज़ उठाता फिरूँ! (रुक कर) मेरे ऊपर तो सारी जिम्मेदारियाँ और लाखों काम हैं। (जाते-जाते) नमस्ते, डाक्टर साहब!

डाक्टर. मुझे आपके इस लड़के का रुख़ पसंद नहीं आया रायसाहब!

पिताजी. नहीं, नहीं यह बात नहीं डाक्टर साहब! सच, बड़ी जिम्मेदारियाँ हैं लक्ष्मीचंद पर। अपने पास लोहे और चमड़े की दो फर्म्स हैं; और सारा काम अकेला लक्ष्मीचंद देखता है।

डाक्टर. तो इसके यह अर्थ नहीं कि वह सब को काटता फिरे! यह सब कुछ जीवन के ही लिये है रायसाहब!

पिताजी. बेशक! बेशक! लक्ष्मीचंद अपने शीबू को बहुत प्यार करता है—तभी वह इतना परेशान है।

[उसी समय दायीं ओर से शीबू का प्रवेश। वह चुपचाप दीवार से सट कर खड़ा हो जाता है, जैसे कोई मूर्ति खड़ी रख दी गयी हो।)

डाक्टर. आ जाओ शीबू!...आओ मेरे पास बैठो...चलो!

पिताजी. क्या हो गया तुम्हें बेटा शिवचंद! मुझे देखो न! सारा घर परेशान है बेटा! कुछ बोलोगे नहीं तो कैसे कोई क्या करेगा! बोलो न तो, कुछ लिखकर ही बता दो!

डाक्टर. और क्या! अपनी वह परेशानी, दर्द, वह द्वन्द्व हम में बाँट दो! तुम अपने को अकेला क्यों सोचते हो!

पिताजी. और क्या!......बोलो बेटा! देखो, कई दिन हो गये! हम सब के साथ यह डाक्टर साहब कितने परेशान हैं!

डाक्टर. (उठकर टहलने-सा लगता है) पता नहीं, आपका यह बेटा जिन्दगी से क्यों इस तरह ऊब गया है !

पिताजी. यह कुछ बताये न ! मैं उसे हर सूरत से पूरा करने को तैयार हूँ !

डाक्टर. बताओ शीबू ! तुम किसी बुरे मर्ज में तो नहीं फँस गये हो ? या किसी मुहब्बत में हार खाकर ऊब गये हो ? या कोई और असफलता है जो तुम्हें जीवन से नफरत करा रही है ।

पिताजी. मैं तो डाक्टरसाहब यहाँ तक कहता हूँ, यह जो कुछ इच्छा करे; मैं भरसक उसे पूरा करने का वादा करता हूँ !

डाक्टर. आपने इस बेटे को बेकार बना रखा है । इसे दूकान पर बैठाते या दौड़-धूप कर किसी नौकरी में लगा देते !

पिताजी. (दुःख से) च···च···च···ओ हो...हो ! कित्ता समझाया कि यह किसी दूकान पर बैठे । एक नहीं, कई नौकरियाँ दिलायीं इसे ! पर 'नहीं' छोड़कर इसके जीवन में जैसे 'हाँ' है ही नहीं !

डाक्टर. (शीबू के पास जाकर अत्यन्त स्नेह से) किससे यह प्रतिक्रिया हुई तुम्हें ? क्या गाँठ है तुम्हारे मन में ? कहाँ चोट है तुम्हें ? मैं डाक्टर हूँ—आदमी भी हूँ — मुझे बताओ । और तुम इस घुटन को चीरकर निकल आओ ! ...बढ़ो, मैं तुम्हें उत्साह देता हूँ; और जिम्मेदार होता हूँ !

[सामने से परकाश का प्रवेश ।]

पिताजी. आओ परकाश ! देखो, शीबू अब तक उसी तरह चुप है ! (रुककर) डाक्टर साहब, यह परकाश मेरे शीबू का एक मात्र दोस्त है । दोनों ने साथ-साथ लिट्रेचर में एम० ए० किया है ।

डाक्टर. मुझे पता है ! यह तो दिन में तीन-चार बार अपने दोस्त को देखने आते हैं !

परकाश. (शीबू के पास जाकर) शीबू ! आओ मेरे साथ चलो···चलो कहीं टहल आयें !

[शीबू मूर्तिवत्—निर्विकार रूप से स्थिर है ।]

डाक्टर (हँस पड़ता है) कुछ बातें करो न तुम लोग । इतने हसीन नौजवान होकर चुप, उदास—अरे, मस्त रहो ! क्या किया तुम लोगों ने इतना पढ़-लिखकर ! (रुककर) यह आर्ट-लिटरेचर क्या है ? जीवन की

रसमय देखना है—सत्य, सौन्दर्य-कल्पना—ये सब जिन्दगी को सुहागन बनाती हैं!

[मन्द हँसी बिखेर देता है।]

परकाश. शीबू, क्या बात ?

डाक्टर. आइये रायसाहब हम लोग यहाँ से चलें! नौजवान दोस्तों के बीच हम बुड्ढे क्यों ?

[डाक्टर रायसाहब के संग भीतर चला जाता है।]

परकाश. बोलो शीबू! बुरी बात है यह! अजीब ड्रामा बना रखा है तूने!

[विराम]

परकाश. पता नहीं क्या बात है! तूने मुझे भी तो कुछ नहीं बताया! और बताओगे भी क्या तुम? कहने-बताने लायक तुम्हारी जिन्दगी में कोई बात भी तो हो!—साधू आदमी तुम! न कभी किसी से मुहब्बत की, न नफरत! न लड़े, न झगड़े। न कुछ कमाया न खोया! (रुककर) तुम्हें तो दुनियाँ भर में सब से ज्यादा खुश रहना चाहिये!

[दोनों एक दूसरे को देखते रह जाते हैं।]

परकाश. शीबू तुम्हें याद है न! बचपन में जो साथ-साथ हम लोग अपने हेडमास्टर के सर से टोपी उड़ा दिया करते थे; और उसके गंजे सर पर (हँसी आ जाती है) तुम्हें हँसी नहीं आयी! यार! एक बार तो हँसो! कुछ बोलो! नहीं तो मैं अब तुझे गुदगुदी लगाऊँगा! (गुदगुदाने लगता है) अरे! तुम रोने लगे...यह आँसू तुम्हारे!... अब मैं नहीं हँसाऊँगा तुम्हें! माफ़ कर दो मुझे!

[उसी क्षण भीतर से डाक्टर के साथ पिता जी आते हैं।]

डाक्टर. (हँसता हुआ आया है) नहीं बुला सके!...आँखें तो गीली कर दी तुमने! शाबाश! अच्छा हुआ! रोओ...खूब जी भर कर रो लो शीबू! कभी-कभी आँसू ही मुक्ति दे जाते हैं!

परकाश. इसने मुझे भी कुछ नहीं बताया!...यूँ अपनी ज़िन्दगी में भी यह बहुत ख़ामोश आदमी है! मतलब से ज्यादा कभी एक शब्द भी नहीं बोलता!

डाक्टर. (चुप है)

पिताजी. (सर थाम कर बैठ गये हैं)

परकाश. ऐसा नेकदिल आदमी मैंने अपनी जिन्दगी में नहीं देखा!

डाक्टर. तभी...तभी ! (रुककर) अच्छा, अब आप लोग जाइये ! जाइये ! नमस्ते !

पिताजी. मैं आपके इस एहसान को ताजिन्दगी नहीं भूलूँगा डाक्टर साहब !

[दोनों का प्रस्थान]

डाक्टर. (अन्दर जाता है; और प्लेट में कुछ फल लाता है) लो यह फल खाओ ! आओ, भूखे होगे तुम ! नहीं खाओगे ? रूठे हो ! तुम्हें कोई मनाता नहीं ! सब यूँ ही परेशान करते हैं तुम्हें ! जो रूठता है, उसे मनाया जाता है—जैसे माँ मनाती है ! तुम्हारी माँ नहीं है शीबू ! ...तभी तुम्हें...तभी कोई नहीं मनाता ! लो मैं मनाता हूँ !

[प्यार से लाकर उसी सीट पर बिठा लेता है, और कटे हुये फल का एक टुकड़ा उसके ओंठ पर रख देता है ।]

डाक्टर. शाबाश ! लो और खाओ ! लो खाते रहो''मैं कॉफी मँगाता हूँ (पीछे दीवार के पास जाकर घंटी देता है) हम दोनों साथ-साथ कॉफी पियेंगे ! (नौकर दो कप कॉफी लाता है और मेज पर रख कर चला जाता है) लो पियो !...तो तुम माँ-विहीन हो ! 'मदर, ह्वाट ए ब्युटीफुल क्रियेशन !' एक साँस में न पियो, धीरे-धीरे एक घूँट में पियो ! जैसे आदमी मन के दर्द को पीता है । (कॉफी पीता हुआ) आदमी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह दर्द में पलता है । वह सोचता है, यही दर्द है उसका !

[दोनों चुपचाप पीते रहते हैं]

डाक्टर. तुम रो रहे हो !''मत रोओ''आँसुओं को वाणी दे दो । वाणी दो—कर्म मैं दूँगा, फिर तुम कर्ममय हो जाओगे !

शीबू. (हाथ से प्याला छूटकर फर्श पर टूट जाता है) डाक्टर !

डाक्टर. हाँ, हाँ ! बोलो ! बोलो यहाँ और कोई नहीं है ! केवल हम हैं !

शीबू. हम हैं, लेकिन मैं नहीं हूँ !

डाक्टर. जभी तुम हो !

शीबू. होना और बात है, जीना और बात !

डाक्टर. (प्यार से हँसता है) बेहद प्यारे बच्चे हो ! सोचो, अगर तुम न होते, तो तुम मुझे कहाँ से मिलते !''यही जीना है !

शीबू. झूठ ! बिल्कुल झूठ !

डाक्टर. (चुप है)

शीबू. मैं अपने इस जीवन से घृणा करता हूँ। इसके पीछे कोई बहुत बड़ा करण नहीं है। मैं कारण ढूँढ़कर खुद हार गया हूँ! [डाक्टर कॉफी पी चुकता है।] घर और बाहर मुझे सब कुछ देता है—पर वह मुझे प्यार और इज्ज़त नहीं देता! जो उसे अच्छा लगता है, वह मुझे खूब देता है, लेकिन जो मैं चाहता हूँ—वह मुझे कभी नहीं देता। बस, उसकी प्रतिक्रिया देता है! प्यार और इज्ज़त···जैसे यही न देकर वह मेरे होने का मूल्य चुका लेता है! वह मुझसे भी नहीं चाहता कि मैं उसे प्यार और इज्ज़त दूँ। पता नहीं, वह मुझसे क्या चाहता है। खुलकर कोई कुछ कहता भी तो नहीं! बस, ठंडी लड़ाई छेड़कर बैठा रहता है।

डाक्टर. 'यू मीन कोल्डवार!'

शीबू. जी! वह मुझे बाँधकर भी अपने से अलग किये रहता है, जैसे मेरा स्वतंत्र व्यक्ति उन्हें अछूत है, अपमानित है! डाक्टर! मुझे हरदम महसूस होता है, जैसे मेरे चारों ओर कोई साजिश चल रही है!—मुझे छोड़ देने के लिये, मुझे तोड़ देने के लिये! (खाँसता है) मैं सब का हूँ, पर सब से अस्वीकृत हूँ!

डाक्टर. दर्द से मत बोलो शीबू! जरा प्यार से बोलो न!

शीबू. वह तो कब का मर गया!

डाक्टर. तुम सोचते बहुत हो! (मुस्कराने लगता है।)

शीबू. वह पूरा माहौल, जिसमें मेरा घर है—लखपती बाप का घर—वह मुझसे चाहता है कि पहले मैं उन्हीं की तरह हो जाऊँ! अपने मूल-स्वत्व को मिटा दूँ! (एकाएक कटु स्वर में) डाक्टर, तुम चुप क्यों हो गये? कहते क्यों नहीं कि मेरा यह कोरा अहंकार है—'परवरटेड इगो!'

डाक्टर. 'जज नॉट... !'

शीबू. ईसामसीह तक मत उड़ो डाक्टर! मुझे समझने के लिये ज़मीन पर उतरो!

डाक्टर. (चुप हो जाता है—अपलक उसे देखता रहता है।)

शीबू. मेरा भाई लक्ष्मीचंद मुझे काम नहीं करने देता! चाहता है—मैं बैठा रहूँ—बेकार रहूँ! पूरा घर मुझे लाचार देखना चाहता है, जिससे वह खुलकर मुझ पर दया करे! सब-के-सब मुझ पर दया

करते हैं; और इन दया-दृष्टियों में एक अजीब उपेक्षा है—कहीं भी करुणा या सहानुभूति नहीं।...डाक्टर! तभी मैं अपना पतन चाहने लगा हूँ!

डाक्टर. (चुप है)

शीबू. पिता और भाई मुझे जिम्मेदार देखना चाहते हैं, पर मुझे जिम्मेदारी नहीं देते! वे मुझसे विश्वास चाहते हैं—पर मुझ पर विश्वास नहीं करते! (उठ खड़ा होता है) वे मुझसे भाई चाहते हैं, बेटा चाहते हैं, किसी दुल्हन का पति चाहते हैं, अंधी-धुआँधार कमाई वाला आदमी चाहते हैं—न जाने क्या-क्या कितना चाहते हैं—पर डाक्टर! वे मुझे नहीं चाहते। तभी मैं अपने को इतना चाहने लगा हूँ कि मैं इन सब से अपने को दूर हटा ले जाऊँ! इतनी दूर कि इनकी छाया तक मुझ पर न पड़े!

डाक्टर. (उठकर स्नेह से) अब चलो भोजन करने चलें! भूख लगी होगी तुम्हें! अब मैं कुछ नहीं सुनूँगा...चलो मेरे संग! तुम्हें भूख लगी है!

शीबू. भूख उन्हें लगती है जो जीते हैं!

[सहसा परकाश का प्रवेश]

शीबू. आओ परकाश!

परकाश. (प्रसन्नता से पागल हो शीबू को गले से लगा लेता है) लवली डाक्टर! बधाई देता हूँ!

डाक्टर. (हँसकर फोन उठाता है) जी हाँ, मैं डाक्टर जैन हूँ! रायसाहब, जी हाँ!...बिल्कुल...आप झट आ जाइये।...लक्ष्मीचंद, ओह आप...खैर, आ भी सकते हैं! क्यों नहीं? आ जाइये!

[फोन रख देता है।]

डाक्टर. शीबू! आज तक तुम मेरे अतिथि थे—मेहमान! आज रात भर तुम मेरे साथ और रहोगे! और सुबह अपने घर जाओगे!

शीबू. (बीच ही में घबड़ाकर) इसीलिये मुझे जिलाया है! नहीं... कभी नहीं!

डाक्टर. ओह ओ! पहले मेरी पूरी बात तो सुनो। तुम यहाँ एक दिन रात को बेहोश होकर आये थे—रात में आये थे—अब भोर में जाओगे! घायल—बेहोश आये थे, अब स्वस्थ और चेतन होकर लौटोगे।

तुम अपने माथे पर खून के धब्बे, आत्महत्या के अभिशाप लेकर आये थे, अब जीवन-पर्व का मंगल तिलक लगा कर जाओगे।

शीबू. नहीं...नहीं डाक्टर! ऐसा धोखा न करो मेरे साथ।

डाक्टर. मेरे प्रति तुम ऐसा कहोगे? खबरदार! (देखते रह जाते हैं) तुम मेरे बेटे की तरह हो—क्योंकि तुम्हें नया जन्म मिला है—पवित्र और बिलकुल नया। और अब इसका मालिक मैं हूँ, तुम नहीं तुम्हारा जीवन अब मेरा है।

शीबू. (चुप है)

डाक्टर. तुम मेरी बात नहीं काट सकते! (रुककर) सुनो, तुम नये उत्साह और विश्वास के साथ अपने घर जाओगे। अपने को कर्मरत कर दोगे। तुम्हें जो-जो नहीं मिला है, एक एक करके मिलेगा, मैं जिम्मेदार होता हूँ। और तुम्हें भी अपने पुरुषार्थ का हिसाब देना होगा। तुम्हें वह सब मिलेगा, जिससे वास्तव में जिया जाता है। मैं साक्षी रहूँगा।

[पृष्ठभूमि में कार रुकने की आवाज होती है।]

डाक्टर. आ गये तुम्हारे पिता और भाई। मैंने बुलाया है उन्हें। तुम्हारे ही सामने उनके संकल्प होंगे, और साक्षी मैं रहूँगा। झूठ सच का जिम्मेदार मैं होता हूँ।

[पिता जी और लक्ष्मीचंद का प्रसन्नता से प्रवेश। सब डाक्टर के पास खड़े हो जाते हैं। सब प्रसन्न हैं, हँसमुख हैं डाक्टर अपनी बात कहने चलता है; और उधर स्टेज की रोशनी एकाएक बहुत तेज़ हो जाती है, और उसी पर पर्दा गिरता है।

कुछ ही क्षण बाद, पर्दा पिताजी—राय साहब की बैठक में उठता है। भीतर से झुँझलाया हुआ लक्ष्मीचंद प्रवेश करता है।]

लक्ष्मीचंद. तुम्हें क्या पता, जो कमाता है, उसे अखरता है! तुम्हें क्या मालूम कि रुपए में कितने आने होते हैं। (रुककर) मुफ्त में देखते-देखते सात सौ रुपए खर्च हो गये!

[शीबू प्रवेश करता है, पर दरवाज़े पर ही रुक जाता है।]

शीबू. (आते ही) किसने कहा था रुपए खर्च करने के लिये!

लक्ष्मीचंद. हमें अपने कुल परिवार की शर्म हया है!

शीबू. रुपये तुम्हारे ही नहीं हैं—सारे रुपए घर के हैं; और घर में मेरा हिस्सा है।

लक्ष्मी. कभी एक कौड़ी कमायी भी है!

शीबू. तुमसे भीख नहीं माँगता!

लक्ष्मी. मांगोगे, अगर यही दशा रही।

शीबू. (क्रोध से चीख़ उठता है) चुप रहो! भाग जाओ मेरे सामने से!

[स्वयं भीतर चला जाता है]

लक्ष्मी. (व्यंग से) ओह ओ! यह दिमाग! भाग क्यों गये? बुज़दिल! पिस्टल चलाकर डराते हैं! मरने के लिये हिम्मत चाहिये! झूटमूट का ड्रामा करते हैं!

[इसी बीच भीतर से पिताजी आते हैं।]

पिताजी. क्या हो गया! क्या है लक्ष्मीचंद!

लक्ष्मीचंद. जब से शीबू डाक्टर जैन के यहाँ से लौटा है, उसका दिमाग कुछ और हो गया है! पहले से भी खराब!

पिताजी. कहाँ गया?

लक्ष्मीचंद. क्या पता!

पिताजी. हमें चाहिये कि उसे समझा-बुझाकर रखें। डाक्टर जैन ने कहा था, शीबू 'सेंसिटिव' है, उसे अच्छे भाव मिलने चाहिये।

लक्ष्मीचंद. अच्छे भाव पाने के लिये करनी अच्छी होनी चाहिये! (रुककर) डाक्टर जैन के अनुसार आपने उसे लोहे वाली फर्म पर काम देखने के लिये बैठा रखा था—लेकिन क्या हुआ, एक ही महीने में साढ़े सात सौ का नुकसान। मैं अभी हिसाब देखकर आ रहा हूँ। सारा काम चौपट हुआ, यह ऊपर से!

पिताजी. पता नहीं, कब सम्हलेगा! शिवचंद को तो चाहिये था कि तुमसे भी चार क़दम आगे रहता।

लक्ष्मीचंद. आप जानिये, आपका काम जाने! (जाने लगता है)

पिताजी. सुनो लक्ष्मीचंद! सब्र से काम लो ज़रा!

लक्ष्मीचंद. (जाते-जाते) बस, शीबू को आप सर पर लिये घूमिये! मेरे पास फ़ुर्सत नहीं!

[भीतर चला जाता है ।]

पिताजी. (दुख से) परेशान है तबीयत शीबू से ! दुनियाँ में बहुत लड़के हैं, बहुत देखा भी—पर दुनियाँ के सारे लड़के नौजवान इससे नीचे-नीचे !

शीबू. (सहसा प्रकट होकर) चलो, मैं आप की नज़र में कहीं तो बड़ा हूँ !

पिताजी. बड़ा बनने के लिये बड़े ख्यालात पैदा करो बेटे ! देखो न, बड़ा है तेरा लक्ष्मीचंद !

शीबू. क्योंकि उनके पैरों के नीचे रुपयों की ढेरियाँ हैं ।

पिताजी. क्या तुम रुपयों की ढेरियों पर नहीं खड़े हो सकते ? तुम में क्या कमी है !

शीबू. यही जानता तो क्या था !

पिताजी. सीखो ! मुझसे सीखो रुपया कैसे पैदा किया जाता है ! मैं तुम्हारा बाप हूँ ।

शीबू. यह भी बताने की ज़रूरत पड़ गयी !

पिताजी. कैसे होते जा रहे हो तुम ?

शीबू. जैसा आप लोग बनाते चल रहे हैं !

पिताजी. देखा नहीं, तुम कितने बच्चे हो ! एक ही महीना फर्म पर बैठे और सात सौ से ऊपर का नुकसान हो गया ।

शीबू. झूठा है लक्ष्मीचंद ।

पिताजी. चुप रहो ! यही है तुम्हारी तहज़ीब ।

शीबू. नहीं चाहिये मुझे ऐसी तहज़ीब ! (जाने लगता है)

पिताजी. कहाँ चले ! मेरी एक बात सुनो !

शीबू. क्या सुनूँ ! तुम लोग जो कहते हो, शायद उसके अर्थ नहीं जानते । यह भी नहीं जानते कि उनमें कितनी चोट है !

पिताजी. अजीब हो तुम ।

शीबू. अजीब नहीं, घायल हूँ मैं ! जो पिस्टल मैंने एक दिन अपने ऊपर चलायी थी, उसके घाव फिर ताज़े हो रहे हैं ।

पिताजी. तुम्हें कोई बीमारी है । मैं किसी खास डाक्टर को दिखाकर इलाज कराऊँगा !

शीबू. हूँ...क्यों नहीं ! उस बार मुझ पर साढ़े सात सौ रुपये खर्च हुये थे—वे अब भी मेरे सीने पर पत्थर की तरह रखे हैं !

पिताजी. क्या बकते हो !

शीबू. अपने लायक बेटे लक्ष्मीचंद से पूछिये। उसने बीसियों बार मुझसे कहा है। वे रुपये मेरे नाम पर एक 'बिल' हैं। मैं चुका दूंगा उसे।

[कुछ कागज़ात लिये भीतर से लक्ष्मीचंद आता है]

लक्ष्मीचंद. (कागज़ उलटता हुआ) इनसे पूछिये यह भोजन क्यों नहीं करते! घर के लोग शाम तक इनका भोजन लिये बैठे रहें, और यह...।

पिताजी. क्यों शीबू!...क्यों इस तरह परेशान कर रहे हो?

शीबू. (चुप है)

पिताजी. बोलते क्यों नहीं? क्या बात है?

लक्ष्मीचंद. मुझे मालूम है क्या बात है! मस्ती है मस्ती! बैठे-बैठे खाना कपड़ा और ऐश करने को मिले तो क्या न हो जाय!

[शीबू दरवाजे से मुड़ता है—भीतर जाता है—और तेजी से बाहर निकलकर ग़ायब हो जाता है। पिताजी बाहर बढ़कर शीबू को पुकारते रह जाते हैं। लक्ष्मीचंद भीतर चला जाता है। एकाएक स्टेज पर अन्धकार छा जाता है। और उसी अन्धकार में भागते हुये शीबू को परकाश पकड़ लेता है।]

परकाश. कहाँ भाग रहे हो? तुम परकाश से भाग कर कहीं नहीं जा सकते।

शीबू. (उसे छुड़ाता हुआ) लेकिन तुम मेरी गति नहीं पकड़ सकते!

परकाश. अब तुम आगे नहीं बढ़ सकते! अगर बढ़ भी जाओगे, तो मैं तुम्हारा संग नहीं छोड़ सकता!—मैं नहीं छोड़ने को

शीबू. मुझे छोड़ दो परकाश! नहीं तो यह सिद्ध हो जायगा कि हमारी इतनी लम्बी दोस्ती झूठी थी, विश्वासघात था! मुझे छोड़ दो!

[छुड़ाकर शीबू भाग जाता है। परकाश वहीं हतप्रभ खड़ा रह जाता है। और कुछ क्षणों बाद फिर भी आगे चल पड़ता है, लेकिन अब थके पाँव से; जैसे शीबू ने उसे बुरी तरह घायल कर दिया हो।

स्टेज की रोशनी जब लौटती है, फिर हमें डाक्टर जैन का वही कमरा दीख पड़ता है—दीवार की घड़ी में शाम के चार बज रहे हैं। और डाक्टर जैन कान पर फ़ोन लगाये बड़ी तेजी से कुछ लिखते मिलते हैं। कमरे के बाहर एकाएक शीबू की अवाज उठती है—"झूठा डाक्टर! झूठा...डाक्टर जैन झूठा है।" और एकाएक दायें हाथ में पिस्टल ताने शीबू आवेश में प्रविष्ट होता है।]

डाक्टर. (प्यार से) क्या है शीबू!...यह हाथ में क्या ले आये?...आओ मेरे पास आ जाओ!

[शीबू अचानक पिस्टल चला देता है। डाक्टर फर्श पर गिरता है। और वह दृश्य देखकर शीबू चिल्ला उठता है।]

शीबू. (डाक्टर से लिपट जाता है) डाक्टर! डाक्टर! यह क्या हो गया तुझे! (पुकारता है) कम्पाउन्डर! दौड़ो कम्पाउन्डर...कम्पाउन्डर!

[कम्पाउन्डर और नौकर दौड़े आते हैं, शीबू फोन उठा लेता है।]

शीबू. सिविल हास्पिटल...सर्जन...दौड़ो...डाक्टर जैन पर पिस्टल चल गयी। बचा लो...बचाओ उसे! (रुककर) पुलिस! पुलिस! जल्दी आओ...डाक्टर जैन का खून! हत्यारा पकड़ा गया!

[उसी क्षण भागकर आते हुये परकाश का प्रवेश होता है।]

परकाश. (त्रस्त-सा) यह क्या कर डाला शीबू तूने! यह क्या कर डाला!

[बेहोश डाक्टर दायीं ओर के दरवाजे से भीतर ले जाया जाता है।]

परकाश. (शीबू को पकड़कर) तूने क्या किया! अपने डाक्टर पर पिस्टल! मर जायगा तेरा डाक्टर! (पिस्टल चुरा लेता है।)

शीबू. (पागल-सा) मर जायगा! मर जायगा डाक्टर जैन! नहीं... नहीं। मैं नहीं मरने दूँगा।...परकाश! किसने मारा मेरे डाक्टर को? बता वह हत्यारा कहाँ है?

[बाहर से दो डाक्टर दौड़कर आते हैं और दायीं ओर मुड़ जाते हैं।]

शीबू. बचाओ! बचाओ मेरे डाक्टर को! रोक दो! खून!—मैंने खून किय है डाक्टर जैन का! गिरफ्तार कर लो मुझे! बाँध लो मुझे!... डाक्टर! अब मैं नहीं मरूँगा...सच अब नहीं मरूँगा...कभी नहीं...।

[उसी दरवाजे से लगकर रोने लगता है।]

परकाश. शीबू!'''शीबू! तू भाग जा यहाँ से!

शीबू. बेइमान कहीं का! मुझे भगाता है!...मैं नहीं भागूँगा...(रोता है) परकाश! ओ परकाश!! तू भीतर जा, मेरे डाक्टर के कान में कह आ—अब शीबू नहीं मरेगा—कभी नहीं...जा कह आ, तब मेरा डाक्टर जी जायेगा! वह जरूर......।

[बेहोश होकर वहीं गिर पड़ता है, पृष्ठभूमि में पुलिस 'जीप' रुकती है। और एक पुलिस-अफसर का प्रवेश। पीछे-पीछे दो कांस्टेबिल भी है। इसी पर तेजी से पर्दा गिरता है, और कुछ ही क्षण बाद फिर उठ जाता है। दीवार की

घड़ी में सात बज गये हैं। बेहोश शीबू पुलिस से घिरा हुआ गद्देदार सीट पर लिटा दिया गया है। पर्दा उठने के कुछ ही क्षण बाद डाक्टर और कम्पाउन्डर के सहारे चलकर डा० जैन आते हैं और एक आरामकुर्सी पर बैठा दिये जाते हैं।]

डाक्टर. शीबू कहाँ है ?

कई लोग. यह बेहोश पड़ा है !

डाक्टर. (पुलिस को देखकर) आप लोग कैसे खड़े हैं ?

पु० अफसर. इसे गिरफ्तार करने !

डाक्टर. बेहोश ..और गिरफ्तार ! (दर्द हो आता है। कराह कर दबा लेता है) (डाक्टर और कम्पाउन्डर से) इसे झट होश में लाओ ! (डाक्टर और कम्पाउन्डर शीबू को इंजेक्शन, दवा आदि देने में लग जाते हैं) कहिये कोतवाल साहब, कैसे तकलीफ की आपने ?

कोतवाल. मुल्ज़िम को गिरफ्तार करने !

डाक्टर. मुल्ज़िम ! कैसा मुल्ज़िम ? किस क़सूर का मुल्ज़िम !

कोतवाल. आप पर पिस्टल चलाने वाला...।

डाक्टर. लेकिन इसने तो नहीं चलायी ! किसने आपको यह झूठी खबर दी ?

कोतवाल. यह तो बिलकुल सही है !

डाक्टर. झूठ !...यह तो मेरा दोस्त है ! (रुककर) बात यह हुई कि चार बजे हम दोनों बैठे बातें कर रहे थे। कार से दो आदमी आये। एक करीब मेरी उमर का, एक नौजवान। दोनों के हाथ में पिस्टल्स थीं। और उन दोनों ने हम पर हमला कर उसी क्षण गोलियाँ चला दीं ! मुझे गोली जरूर लग गयी। बेहोश भी शायद हो गया मैं !

परकाश. (बीच ही में) और आप ही का खून देखकर शीबू भी बेहोश हो गया !

डाक्टर. बिल्कुल यही बात !

कोतवाल. तो उन दोनों को पहचाना है आपने ?

डाक्टर. जी, मैंने उन्हें पहचान लिया है—वही मुल्ज़िम हैं !

कोतवाल. तो उनके नाम और पते दीजिये !

डाक्टर. पता तो नहीं जानता; महज़ उन्हें पहचानता हूँ ! खूब पहचानता हूँ !

कोतवाल. तब कैसे क्या होगा ! कैसे उनकी गिरफ्तारी हो ?

डाक्टर. भविष्य पर छोड़ दीजिये ! वे जरूर एक दिन खुद गिरफ्तार होंगे !...आज माफ़ कीजिये...आज यही उनकी सज़ा है !

[कोतवाल पुलिस के संग लौटने लगता है ।]

नमस्ते ! आप मुझे भी माफ करेंगे ! बड़ी ज़हमत उठानी पड़ी आपको !

[पुलिस अफसर का प्रस्थान]

डाक्टर. होश नहीं हुआ ?...अब तक नहीं ?...लाओ मेरे पास खींच दो ! इसकी हथेलियाँ मुझे दो !...तुम सब जाओ यहाँ से ! जाओ, ड्राइंग रूम में बैठो !

[सब का प्रस्थान]

डाक्टर. (प्यार से हँसता है) शीबू ! ओ बेटे शीबू ! (हथेलियाँ मलता रहता है) होश में आओ ! जल्दी आँख खोलो । मैं तुमसे बातें करूँगा ! अभी साथ-साथ 'कॉफी' पियेंगे । तुम डर गये ! पागल कहीं का, समझ बैठे कि डाक्टर मर गया ! जब मैं खून में डूबा था; तब भी मैं तुम्हारी आवाज़ सुन रहा था—'मैं नहीं मरूँगा अब !' फिर बोलो शीबू ! मैं फिर तुम्हारी आवाज़ सुनना चाहता हूँ । (रुककर) मैं आईना हूँ शीबू ! तुम मेरी तस्वीर हो ! इस आईने में उनकी भी तस्वीरें आती हैं, जो अपराधी हैं, जो घृणा देते हैं । तुम जागो शीबू, जिससे वे अपराधी तस्वीरें खो जायँ (रुककर) मैं अपने आईने में तुम्हें देख रहा हूँ ! तब भी देखा था, जब तुम चार दिनों तक चुप थे । और अब भी देख रहा हूँ जब तुम बेहोश हो !...शीबू...।

[शीबू को होश हो आता है—और वह पुकार उठता है, 'डाक्टर' !]

डाक्टर. (हँसता है) जग गये तुम !...रोता है !...अब भी रोता है ! यह आँसू ! रुको 'कॉफी' मंगाता हूँ । साथ-साथ पियेंगे ।

[उठकर आवाज़ देता है, शीबू भी उठने लगता है, उसी पर तेज़ी से पर्दा गिरता है ।]

साँप

अज्ञेय

●

साँप तुम सभ्य तो हुए नहीं, न होगे,
नगर में बसना
भी तुम्हें नहीं आया

एक बात पूछूँ (उत्तर दोगे)
फिर कैसे सीखा डसना,
विष कहाँ पाया ?

●

स्वर्ग-ग्राम और वर्षा

श्रीलाल शुक्ल

कल की बात है। रेडियो से 'रिमझिम परत फुहार' नामक संगीत-रूपक हो रहा था। कहानी ऐसे गढ़ी गई थी :—

एक कवि था। उसकी एक कल्पना थी। वाजिब था कि वे संगीत में बातचीत करते। उतना न कर सके तो दोनों ने पद्य में बातचीत की। जब पानी बरसा तो कवि को शहर में बड़ी निराशा हुई। क्योंकि वहाँ ईंट चूने व सीमेंट के मकान थे। सड़कें थीं। नालियाँ थीं। प्रकृति की कोई भी क़द्र नहीं थी। "दादुर मोर, पपीहा बोले," वाला डौल न था। अब कवि क्या करे? कविता निकलती है केवल दादुर, मोर, पपीहा की लाइन में खड़े होने पर (अर्थात्, उनसे 'तादात्म्य स्थापित करके।') इसलिये कवि ने कल्पना को डाँटा कि वह उसे शहर में क्यों घुमा रही है। कल्पना कवि के 'राज़' को जानती थी।

कल्पना कवि को गाँव ले गई।

अब आप आँख मूँदकर रीतिकालीन साहित्य को कपड़छान करके उसकी गोलियाँ खा लीजिये। १६५५ ने आपको जो कुछ बताया है उसे भूल जाइये। श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'अहा ग्राम्य-जीवन भी क्या है' की चौपाइयाँ हनुमान-चालीसा जैसी रट डालिये। पन्त जी की 'ऊँची अरहर में लुका-छिपी' वाला खेल सीख लीजिये और कवि की आँखों में बैठ जाइए!

किसी खेत के एक कोने में बिरहिन खड़ी रो रही है। मतलब यह है कि गा रही है। बिरहिन वर्षा ऋतु में बहुतायत से पाई जाती है। वे गाँवों ही में रहती हैं। शहरों में इसलिये नहीं रहतीं कि वहाँ पर 'डगर जोहने' की गुंजाइश नहीं। वहाँ डगर नहीं, सड़कें होती हैं। बिरहा की आग लगाने के लिये पपिहरा की बोली सुनना लाज़मी है। इसलिये गाँव में बिना रहे काम नहीं चलता! 'झंझा' भी गाँवों ही में ज़रा ज़ोर से सनसनाती है। इसलिये बिरहिन कवि को गाँव में मिली, शहर में नहीं।

कवि ने वहाँ झूला भी देखा। 'मदमाती युवतियाँ खिलखिलाकर हँस

रही थीं।' शहर में एक तो युवतियाँ नहीं होती हैं, (अगर होतीं तो कवि को गाँव न जाना पड़ता), होती भी होंगी, तो मदमाती नहीं हो सकतीं। अगर जैसे तैसे मदमाती भी हो गईं तो खिलखिलाकर हँस नहीं सकतीं। शहर की युवती की यही कल्पना है।

तो कवि ने खिलखिलाती युवतियाँ देखीं। अब जब ऐसी युवतियाँ हों तो उनमें एक झेंपने वाली, कम हँसने वाली युवती भी होनी चाहिए। सब युवतियाँ सखियाँ हैं। यह झेंपू लड़की हीरोइन है। यह सब नया नहीं है। अल्फ्रेड कम्पनी के नाटकों में 'रम्भा का सखियों के साथ आना' से लेकर आज तक के बम्बइया फिल्मों में एक्स्ट्राज़ के झुण्ड देखने वाले मेरी बात समझ जायँगे।

कवि ने उनसे बारहमासे और मौसमी चीजें सुनीं।

खेतों में किसानों के जत्थे "मेघराज, मेघराज, मेघराज" कहकर गा रहे थे। सिनेमा में देखा होगा कि तूफान आने के पहले 'माँझी' लोग (माँझी शब्द टेकनिकल है) या, किसी दुर्घटना होने के पहले कुछ आवारे एक खास आवाज में बड़ी गम्भीरता के साथ गाते हैं। किसान भी कुछ इसी प्रकार गा रहे थे। सिनेमा में ऐसे कोरसों में एक स्वर पर दूसरे का स्वर चढ़ा रहता है। दो-एक गाने वाले सिर्फ 'होशियार! होशियार!' 'जाऽऽतूऽऽ! जाऽऽ तूऽऽ' दोहराते रहते हैं। एक गाने वाला डराने वाली आवाज में सिर्फ 'आऽऽ' का आलाप खींचता है। सुनने वाले को सहमा देना ही इन कोरसों का उद्देश्य माना गया है। इस भावना को और बढ़ाने के लिये गीत की टेक के तरीके से "मंडोला गंडोला डोला" "चीम पाम, चीम पाम" जैसे मन्त्र बीच में गाये जाते हैं। ऐसे ही मन्त्र के साथ आरकेस्ट्रा समाप्त हो तो कोरस सफल माना जाता है।

जो किसान खेतों में गा रहे थे, वे गा इसी टेकनीक से रहे थे। सिर्फ मन्त्र नहीं फूँकते थे। कवि ने समझ लिया कि किसान परम प्रसन्न हैं। यानी, लड़के हँस खेल रहे थे। नदी नाले रस से भरे बह रहे थे। हरियाली छिटकी थी। पवन डोल रहा था। रिमझिम फुहार पड़ रही थी।

यह भी न भूलिये कि इस बीच दादुर, मोर, पपीहा, विरहिन आदि अपना अपना पुश्तैनी काम कर रहे थे।

तब कवि को विश्वास हो गया कि उसकी कल्पना उसे ठीक जगह ले आई है।

कुछ बातचीत के बाद संगीत-रूपक यहीं समाप्त होता है।

अब कल्पना को फिर बुलाइये। लीजिये यह आ गई।

इसकी मदद से कवि को इसी गाँव में एक किसान के घर में रख दीजिये। उसके हाथ में वही अठारहवीं सदी वाली सरकण्डे की कलम और काली स्याही की दवात पकड़ा दीजिये। अब उसे चौबीस घंटे तक यही सरकंडे की कलम पकड़े हुये गाँव की गलियों में घूमने दीजिये।

रात हो गई है। मोर पपीहा बोल रहे हैं। पर वे दूर हैं। दादुर नज़दीक ही बोल रहे हैं। 'वेद पढ़ें जनु बटु समुदाई।' पर एक दादुर का वेदपाठ ऐसे उदात्त-अनुदात्त में उलझ जाता है कि कवि चौंक उठता है।

एक साँप ने वेद-पाठी दादुर को ग्रस लिया है। कवि को उपमा नहीं ढूँढ़े मिली। वह चीत्कार कर उठता है। यह चीत्कार बिरह-बिथा वाले चीत्कार से भिन्न है।

साँप मारा गया।

इसके बाद—'झिल्ली झनकारैं।' साथ ही—'मच्छर रोर करैं।' ये मच्छर कवि की सोई हुई कल्पना को जगाने के लिए विशेष उत्सुक हैं। उसके कान पर बार-बार बैठकर वर्षा-मंगल गा रहे हैं। उसके कोमल कपोलों को अपने कोमलतर स्वप्निल पंखों से छू रहे हैं। उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को आत्मसात् किये ले रहे हैं। कवि की कल्पना फिर भी हँस नहीं पाती। उसी दुख में वह कभी अपने कान खींचता है, कभी अपने मुँह पर चपतें मारता है, कभी पैरों में चुटकी काटता है। केवल ज़हर पीकर आत्महत्या नहीं करता! (जैसा कि कभी-कभी बिरहिन करती है।)

ख़ुदा को जब देना ही होता है तो पानी की धार तक छप्पर फाड़कर देता है। कवि चारपाई हटाना चाहता है। उठता है। जूतों में पैर डालते ही अँगूठे के पास कुछ 'मृदुल मृदुल, कोमल कोमल' अनुभव होता है। एक जूते में चिरपरिचित दादुर विश्राम कर रहा है। दूसरे में डंक उठाये एक बिच्छू अपना कर्तव्य निभाने को आकुल बैठा है। [यहाँ यह बात भी तबीयत में उठ सकती है कि इस डंक का प्रयोग कवि के अँगूठे पर करा दिया जाय। पर यह वर्णन कुछ देर तक और चलाना है।]

आप यहीं घबरा गये? 'स्वर्णिम उषा' देखना चाहते हैं? अच्छी बात है, झंझा-झकोर, गर्जन से लेकर मच्छर-मक्खी तक छोड़ दीजिये, सिर्फ़ एक प्राणी से परिचय कर लीजिये।

वर्षा से दो प्राणी प्रसन्न-विशेष होते हैं; कवि और चोर ! उनके लिये आदर्श अवसर है। गाँव है, थाना दूर है। पुलिस पहरे का डर नहीं है। आने जाने के रास्ते बन्द हैं। कच्ची दीवालें आधी ढह गई हैं। जो समूची हैं, वे बरसात की नमी में सेंध का स्वागत करने को पिछवाड़े की ओर झुक गई हैं। झंझा की मार से थककर रात के तीन बजे किसान ख़र्राटे ले रहा है। गाते-गाते विरहिन की औक़ात जवाब दे गई है। कवि कल्पना, निद्रा और मदहोशी के तिताले पर नाचता हुआ मिट्टी के संसार से दूर घूम रहा है—यानी 'विचर' रहा है।

अब न चूक चौहान ! (चौहान से मतलब पृथ्वीराज चौहान से है)

भूल जाइये—'यहाँ उचक्के चोर नहीं हैं।'

स्वर्णिम उषा फूटी (उषा हमेशा 'फूटती' है, आती नहीं है)। किसान 'मेघराज, मेघराज' भूलकर थाने पर जा रहा है। चोरी की रिपोर्ट लिखानी है। कवि का सौभाग्य है कि किसान ने उसे ही चोर कहकर नहीं पकड़वा दिया। किसान अपने पड़ोसी रामजियावन का नाम चोर के ख़ाने में लिखायेगा। उससे पुश्तैनी दुश्मनी है।

किसान को इस बेईमानी का पता तब चलेगा जब उससे अदालत में पूछा जायगा कि उसके घर में उसकी बाईस साल की लड़की है और सफ़ाई में कहा जायगा कि रामजियावन चोरी करने नहीं गया था बल्कि इस लड़की के बुलाने से ही किसान के घर में आया था। फ़ैसला भी यही होगा—रामजियावन छूट गया। किसान की सात पीढ़ियाँ कलङ्कित हुईं।

बारिश शुरू हुई।

दिन भर खेतों की मेंड़ बाँधने के सिलसिले में दस फ़ौजदारियाँ हुईं। (मरे फ़ौजदारी की नानी !)। एक के खेत का पानी दूसरे के खेत से निकलने के सिलसिले में पन्द्रह और एक के परनाले का पानी दूसरे की छत से निकलने पर बीस फ़ौजदारियाँ हुईं। खेत जोतने के दिन आये। अतः मज़बूत लोगों ने कमज़ोर लोगों के खेत ज़बरदस्ती छीनने शुरू किये। मुक़द्दमेबाज़ी प्रारम्भ हुई। (दीवाना करती दीवानी !)

कवि डेरी के मक्खन का अभ्यासी है। यहाँ मक्खन नहीं मिलता। दूध इन्हीं डेरियों में जाता है। कवि का पेट गाँव का अन्न खाकर जवाब दे गया।

चार कोस पर धन्वन्तरि रहते हैं। वे पहले कम्पाउन्डर थे। दवाओं की चोरी के जुर्म में निकाल दिये गये थे। लेकिन उन्हें बुलाना कठिन है।

और, कपड़े-लत्ते, खाने-पीने और दवा-दारू की दरिद्रता।

कवि यह सब नहीं सोचता। यह काम राजनीति और अर्थशास्त्र से मतलब रखता है।

अब कवि की कल्पना मूर्च्छित हो गई। उसे होश में लाने के लिये लैला-मजनूँ, शीरीं-फ़रहाद की कहानियाँ पढ़नी होंगी। ताजमहल के चक्कर लगाने पड़ेंगे। बिरहिन के आँसुओं से नहलाना पड़ेगा।

आया था कल्पना के यान पर। लौटा पैदल।

रास्ते में रिमझिम फुहार के मारे नाक में दम था। कीचड़ व पानी के बीच में चलना कुम्भीपाक जैसा लग रहा था। कवि ने शुद्ध बंगाली ढंग से पहनी हुई धोती ऊपर चढ़ाई, फिर चलना शुरू किया।

अँधेरा हो गया। तब कवि को लगा कि कोई भी उसकी गरदन दबाकर उसकी पर्स छीन सकता है। उसे 'मुद्दई' बना सकता है। कोर्ट में उससे उसके ख़ानदान की महिलाओं की अवस्था और गुण पुछवा सकता है।

तब सत्य का दर्शन हुआ।

एक दादुर यानी मेंढक, एक गढ़े में बैठा हुआ टर्र टर्र कर रहा था। कीचड़ में सना, परमहंस—जैसा, वर्षा के उत्पात से अनजान। वह और उसके पुरखे सनातन से यही बोल बोलते आये हैं। कवि ने समझा कि वर्षा पर जो बोल वाल्मीकि के काल से बोले गये हैं, उन्हीं को रटते-रटते कवि ने अपने आपको कहाँ पहुँचा दिया है।

शहर आया। सीमेंट के घर—तारकोल की चौड़ी सड़कें, नालियाँ, बिजली की रोशनी—कवि के मन में आया कि सड़क पर लोट जाय और एक स्तोत्र लिख डाले। पर कल्पना मूर्च्छित थी।

घर पहुँचने के पहले ही कवि को एक मित्र ने अपने बँगले में रोक लिया। मौसम की तारीफ़ की। संगीत की चर्चा की। फिर कविता-पाठ का आग्रह किया।

कवि चुप रहा।

तब उसे मूड में लाने के लिये मित्र ने कहा—"चाय मँगाऊँ?" पर कवि ने धीरे से कहा—'एक टिकिया पालुड्रिन या एस्प्रो चाहिए। बुखार लगता है।'

शरीर का यह ताप निश्चय ही बिरह-ताप नहीं था।

डायरी के कुछ पृष्ठ

अजितकुमार

●

ग्यारह जनवरी

हम तो निराश हो गए थे कि इस साल जाड़े का मौसम कोरा ही चला जाएगा लेकिन इस वक्त रात के दस बजे हैं और हवा तेज़ी से चलने लगी है, रह-रह कर बिजली भी चमकती है, पेड़ों के पत्ते सरसरा रहे हैं; मौसम अचानक सुहावना हो गया है। खिड़कियाँ और दरवाजे भड़भड़ाते हैं, सड़क पर चलने वाले रिक्शों की घंटियाँ बजती हैं और फ़ौरन ही दूरी में विलीन हो जाती हैं—रिक्शों की रफ्तार तेज़ है, तो लगता है कि पानी बरसेगा। और ज़रूर बरसेगा। बादल घिर आए हैं : बूँदें ज़रूर पड़ेंगी। फ़सल को यही पानी तो अच्छा बनाएगा। किसान कब से बाट जोह रहे थे। आज शुभ दिन आया है।

तेईस जनवरी

जो वह ऐसा हो गया है तो दोष कपिल का नहीं है; दोष उसके माता-पिता का है। उन्होंने कपिल को बताया ही नहीं कि दुनिया से बहुत अधिक आशा न करनी चाहिए। उलटे उन लोगों ने कपिल को, उसके बचपन में, अजीब सी कहानियाँ सुनाई थीं जिनमें राजकुमार हमेशा अपने उद्देश्य में सफल होता था और परियाँ प्रत्येक मनोकामना को पूरी कर देती थीं। नतीजा यह हुआ कि ऐसी कहानियों को सुनकर और संसार से ऐसे घोर अपरिचय के बीच रह कर कपिल के मन में विचित्र सी धारणाओं ने जड़ जमा ली कि इस दुनिया में जो भी है, सब अच्छा है। धोखा, दुख, विषाद, निराशा जैसी चीजों से कपिल का परिचय ही न हो पाया और इसीलिए जब पहली बार कपिल के जीवन में एक अप्रत्याशित घटना घटी तो वह चकित रह गया। उसे लगा कि जीवन के सारे आधार टूट गए, सारे विश्वास ढह गए, सारे स्वप्न एकबारगी मिट गए।

यह सब इस तरह हुआ...

उन दिनों कपिल स्कूल के नवें दरजे में था...लेकिन नहीं, नहीं ! कपिल की हारों की बात इतनी सरलता से, ऐसे सहज भाव से कैसे कही जा सकती है ! उसे रहने ही दो !

दो फरवरी

कोई ज़रूरी है कि हर बात पर मेरी कोई न कोई राय हो ही। मैं कुछ चीज़ों को बिलकुल कुछ भी नहीं जानता, जानना नहीं चाहता। तो ठीक है, उनकी चर्चा करोगे तो मैं अपने को 'अज्ञानी' कहला लूँगा।

कोई ज़रूरी है कि हर बात पर मैं प्रतिक्रिया करूँ ही। नहीं करता। हलकी-फुलकी चोट करोगे, छोटा-मोटा दुख दोगे तो सह लेने में मेरी क्या हानि है !

तीन मार्च

किसी बड़े हाल में बैठे हुए आदमियों को खिलखिला कर हँसते हुए आपने कभी सुना है ? ऐसा लगता है कि सीमेंट के फ़र्श पर आसमान से पीतल के अनगिनत सिक्के गिर रहे हैं, गिरते ही चले जा रहे हैं। हँसी ख़तम होने पर जब गूँज शेष रह जाती है तो जान पड़ता है कि किसी बड़े बरतन में कंकड़ों को भर कर हिला दिया गया है।

जब गूँज भी मिट जाती है तो कैसा लगता है ?

जाने भी दीजिए : हँसी-खुशी के वक्त ऐसी बातों की चर्चा न करनी चाहिए।

सात अप्रैल

दीपक भी कैसा लड़का है ! चार साल का होगा। गोरा, हँसमुख। सुबह बुआ रसोई में बैठ कर तरकारी काटने लगीं तो कहने लगा—'बुआ, तुम मत तरकारी काटो नहीं तो तुम्हारी उँगली कट जाएगी। माँ को तरकारी काटने दो।'

इस पर बुआ बहुत हँसीं लेकिन जब तक वे उठ नहीं गईं, दीपक माना नहीं।

बुआ जब रोटी सेंकने गईं तो दीपक को बहुत दुख लगा। कहने लगा—'बुआ, तुम्हारी आँखों में धुँआ लग रहा है। तुम रोटी मत सेंको।'

बुआ ने समझाया, 'भैया! रोटी नहीं सिकेगी तो खाया क्या जाएगा?' अब इस तर्क का दीपक क्या जवाब दे! वह थोड़ी देर चिन्तित भाव से सोचता रहा फिर दौड़कर आँगन में एक टूटा गिलास उठा लाया और गिलास में धुएँ को भर-भर कर आँगन में फेंकने लगा।

इस स्नेह को देखकर बुआ की आँखों में आँसू आ गए। फिर एक दिन बुआ और चाचा बैठे बातें कर रहे थे। चाचा ने मिनी से एक गिलास पानी लाने को कहा, तो दीपक भी हाथ में आधा गिलास पानी लेकर ठुनकता हुआ आ गया। बुआ को गिलास दे दिया: 'बुआ, पानी पिओ।' मिनी झट से बोल उठी—'बुआ, पानी मत पीना, जूठा है।' बुआ बेचारी क्या करतीं, दीपक से कहा कि पानी वापस ले जाए, उन्हें प्यास नहीं लगी है।

लेकिन जब तक बुआ पानी न पी लें, दीपक अपनी जगह से हटेगा ही नहीं, गिलास बुआ की तरफ़ बढ़ाकर चुपचाप खड़ा रहेगा।

बुआ ने एक घूँट पी लिया तो हँसता हुआ गिलास लेकर चला गया।

बुआ कहती हैं कि दीपक बिलकुल जाट है। बन्दूक तलवार से नीचे बात ही नहीं करता—'बन्दूक से मार डालूँगा, तलवार से काट डालूँगा, गोली से दाग दूँगा'—बस यही बातें हैं। बड़ा होकर बस, चपरासी बनेगा। सुनकर दीपक हँसता है जैसे चपरासी बनना कोई बड़े गर्व का विषय हो।

और देखो: माँ से किसी बात पर झगड़ा हो गया तो माँ बोलीं—'देखो दीपक, नहीं मनोगे तो तुम्हें सियाही की माँद में डाल आएँगे।'

इस पर मुस्करा कर दीपक ने कहा—'वाह, सियाही तो हमारा दोस्त है। हम उसे अपने साथ खाना खिलाएँगे। इन कथाओं का कोई अन्त थोड़े ही है।

एक मई

यह ज़िन्दगी किस क़दर बेमानी है। आज की रात कैसी बेमज़ा है, हर दूसरी रातों की बनिस्बत उदास, ख़ामोश और बेचैन। एक नज़र से देखो तो तारे भी कम ही दिखाई देते हैं गो कि अनगिनत छिटके हुए हैं। कभी-कभी होता ही ऐसा है कि संभावनाएँ तो अनन्त होती हैं लेकिन नज़रों तले बस अँधेरा सूझता है, रास्ता दो क़दम आगे भी नहीं दिखाई देता। वैसे ही इधर-उधर अँधेरे में भूतों जैसे लगने वाले पेड़ हैं।

इस डिस्पेन्सरी में दिन तो गुज़र जाता है, रात नहीं बीतती। कम्बख़्त नींद भी तो नहीं आती।

तीन मई

जो आदमी रात को देर तक नहीं जागता, वह भावुक हो ही नहीं सकता। जिसे नौ बजते ही नींद आ जाती है, वह किस बिरते पर भावुक होगा। जब तक चारपाई पर लेटकर करवटें बदलने की स्थिति न हो, भावना जगेगी कैसे? इतनी सी बात तो हर आदमी जानता है कि जैसे-जैसे रात गहरी होती है, भावना में भी गहरापन आता है।

इसलिए, रात का जागना और भावुक होना—दोनों बातें परस्पर पूरक हैं।

लेकिन वाह री बीमारी! वाह रे चौबीस घन्टों में डेढ़ घन्टे का सोना। यह बेबसी की अनिद्रा तो मानों भावुकता के भूत को खदेड़ भगाने के लिए तुली है।

जून

\+ + +

\+ + +

जुलाई

\+ + +

\+ + +

६ अगस्त

आज बड़ा मज़ा आया। दो छोटी सी प्यारी बच्चियाँ आईं। मालती और माला। एक बड़ी, दूसरी छोटी बहन। आकर कमरे में डोलने लगीं। कभी दवाइयों की शीशियाँ छूतीं, कभी किताबें उलटतीं और कभी मेज़पोश अपनी तरफ़ घसीटतीं। मैंने डाँट कर कहा, 'भाग जाओ', तो माला ने भोली आँखें मुझ पर गड़ा कर कहा, 'नहीं दाएँगे।' हँसकर मैंने बुलाया, 'अच्छा, आओ, इधर आओ।' तो दूर भाग गईं।

फिर रमेश ने मालती को और मैंने माला को उकसा कर इसके लिए तैयार किया कि वे आपस में लड़ें। हम लोगों ने दोनों को दाँवपेंच सिखाए कि किस तरह बाल पकड़कर घसीटना होगा, कैसे चुटकी काट लेनी होगी और किस तरह कान उमेठ लेने से जीत हो सकेगी। दोनों लड़कियाँ सिर हिला-हिला कर समझती रहीं और जब सब सीख गईं तो एक-दो-तीन कहकर उन्हें बटेरों

की तरह छोड़ दिया गया और वे एक दूसरे से गुथ गईं। हम लोग अपने-अपने योद्धा को आदेश देते रहे, दाँवपेंच बतलाते रहे।

लड़ते-लड़ते गिर गईं तो उन्हें अलग किया गया। पूछा कि चोट तो नहीं लगी तो दोनों ने बताया, 'नहीं लगी।'

फिर उनको 'विटामिन सी' की एक-एक खट्टी टिकिया खाने को दी और कहा, 'जाओ, अपने घर जाओ। अब कल आना।' तो वे दोनों की दोनों एक-दूसरे के हाथ में हाथ डाल कर चली गईं और बाहर नीम के नीचे खेलने लगीं।

चौबीस सितम्बर

एक व्यक्ति के लिए कभी-कभी बड़ा दुख लगता है। आत्मा में यदि विकार सम्भव होता होगा तो वह भी उसके लिए खूब व्यथित रहती है।

उसे, दूसरों के मन में श्रद्धा उपजा देने वाला ज्ञान नहीं दिया, सहज ही मोह लेने वाला व्यक्तित्व नहीं दिया, दुख पाकर तत्क्षण विदीर्ण हो जाने वाला हृदय भी नहीं दिया! हे भगवान! यह सब अस्वीकार कर दिया तो फिर उसे जन्म ही क्यों दिया था! इस एक व्यक्ति को अजन्मा ही रहने दिया होता।

सत्ताईस सितम्बर

बाहर के सब संघर्षों से बढ़ कर जो मानसिक संघर्ष व्याकुल किए रहता है, उसके लिए क्या करूँ? मन में जब अशान्ति रहती है तो क्या कुछ न करने की तबियत होती है। ऐसे में कितना अकेलापन महसूस होता है। सब बेगाने हैं, कोई अपना नहीं। एक भाव होता है, एक क्षण—व्याकुलता और पीड़ा का—जिसमें हम सबसे बिलकुल अकेले हो जाते, जिसे हम दूसरों पर अभिव्यक्त नहीं कर पाते, अभिव्यक्त करना चाहते भी नहीं। वह एक रहस्यपूर्ण, व्यक्तिगत, सीमित क्षण मुझ पर बार-बार क्यों छाता रहता है? क्यों मुझे इतना त्रस्त करता है? वह मेरा स्थायी भाव जैसा क्यों बनना चाहता है?

ग्यारह अक्टूबर

बहुत दिनों तक पुस्तकें मेरे लिए वेदवाक्य सरीखी बनी रहीं। मेरे मित्र मुझसे जो कहते उससे तो मैं अपनी समझ के अनुसार मतभेद प्रकट करता

किन्तु पुस्तकों में जो बातें लिखी होतीं उन्हें मैं हमेशा सही और उचित मानता रहा। इस तथ्य-विशेष का कारण कदाचित् मेरे बचपन के संस्कार थे। बचपन से पुस्तकों के प्रति अपार श्रद्धा और पूजा-भावना के अंतर में स्थित हो जाने के कारण पुस्तकों से मतभेद रखना मैं काफी बाद में सीख पाया। इसीलिए साहित्य के प्रति मेरा दृष्टिकोण एक अरसे तक स्वीकारात्मक ही रहा। हर छपी बात को सच मान लेने का संस्कार मुझमें काफ़ी देर तक जड़ जमाए रहा। तभी तो मैं प्रारंभ में शकालु, विवादी और बौद्धिक दृष्टि से स्वतन्त्र न बन पाया। यह तो बहुत बाद में जान सका कि हर छपी बात आप्त वाक्य नहीं है, बहुत कुछ झूठ-फ़रेब और छल-प्रपंच भी है।

इसी तरह, एक बात और भी याद आती है कि मैंने कविताओं का पढ़ना काफ़ी देर में शुरू किया। पहले गद्य ही पढ़ता रहा—कहानियाँ और उपन्यास। इसके दो फल हुए। एक तो मेरी प्रकृति और मेरा मन शुरू से ही कल्पनाशील और भावप्रवण न बन सके। मैं संगीत को भी अपने अंतर में बसा न सका। दूसरे यह कि मैंने कविता लिखना अपेक्षाकृत बाद में प्रारंभ किया।

भावप्रवणता और कल्पनाशीलता के इस प्रारंभिक अभाव ने मुझे कदाचित् दो रूपों में स्पर्श किया होगा : एक तो मैं तत्कालीन छायावादी भावधारा से उदासीन या कहूँ कि एक प्रकार से अपरिचित रहा; दूसरे—मैंने जब कविताएँ पढ़ना प्रारंभ किया तो अंग्रेजी कविता में भी उतना ही रस खोजा जितना हिन्दी में। इस प्रकार कविता लिखने, पढ़ने, समझने के लिए मेरे मन का निर्माण लगभग सन् अड़तालीस-उनचास में हुआ। इससे पहले मेरे स्वभाव, प्रकृति, रुचि आदि पर कविता के जो संस्कार पड़े, वे लगभग शून्य के बराबर थे।

फलतः, मैंने स्वाभाविक रूप से ही, अपने समवयस्कों से कुछ पहले और कुछ दूसरे ढंग से भी, नई कविता को पसन्द करने और समझने का प्रयास किया, ऐसा याद आता है।

सत्रह अक्टूबर

फ़िल्म देख कर लौटने पर हर आदमी दो में से एक या फिर दोनों ही काम करता है। वह या तो ग़मगीन हो जाता है या देखी हुई फ़िल्म की चर्चा अपने दोस्तों से करता है।

हम लोग अंग्रेज़ी-तस्वीर देखकर लौटे तो कुछ देर चुपचाप चलते रहे।

यह नहीं कि हम बहुत शालीनस्वभाव वाले थे और अंग्रेजी अदब-कायदे में विश्वास करते थे बल्कि यह कि हममें से अधिकांश तस्वीर को समझ ही न पाए थे। बस इतना समझे थे कि एक नायक और नायिका थे और वे मन ही मन एक दूसरे से या तो बहुत प्रेम करते थे या बहुत घृणा करते थे। इसके आगे की कथा हर एक ने अलग ढंग से समझी थी या फिर नहीं समझी थी। लेकिन शौक़ीन हम सबके सब थे अंग्रेजी तस्वीरों के।

बहरहाल बात तो शुरू होनी ही थी सो जब चली तो अंग्रेजी संगीत पर आ पड़ी। मैं चुप था। मुझ पर तस्वीर ने तनिक भी असर न डाला था। उधर सरगर्म बहस छिड़ी थी। मुझे भी मैदान में खिंचने की कोशिश की गई तो मैंने गंभीर होकर कहा, 'देखो जी! इस वक्त तो न छेड़ो। मेरे मन में साज़ बज रहे हैं। पियानो, गिटार और मैन्डोलिन का संगीत गूँज रहा है; तबले के ठेके, सितार की गतें और तुम्हारे तान-पलटे सब भूल गए।'

इस पर सभी हँसे और बहसें नायिका के चश्मे और पोशाकों पर जा केन्द्रित हुईं।

हँसी की बात हँसकर ख़तम हो गई लेकिन घर आकर सोचता हूँ तो मिला-जुला बहुत कुछ मन में आता है। जैसे, यह संगीत हुआ—तो मैं समझता हूँ कि '*कविता से संबन्धित संगीत*' और कविता से निरपेक्ष '*स्वतन्त्र संगीत*'—दो बिलकुल अलग बातें हैं। कविता से संबद्ध हो जाने पर संगीत मूलतः 'व्यंजन ध्वनियों' का संगीत हो जाता है अन्यथा वह शुद्ध 'स्वर ध्वनियों' का ही बना रह सकता है। इस सबके कारण हिन्दी के अधिकांश छायावादी गीतों का संगीत मुझे कुछ विदेशी जैसा जान पड़ता है; मेरा मन उसमें नहीं रमता जैसे वह कुछ पुराना सा पड़ गया है। नए संगीत की खोज में मेरे होंठों पर जो लय उभरती है, उसके नमूने बहुत से मिल सकते हैं। लयमान या प्रवहमान संगीत के स्थान पर मुझे काव्य के लिए अधिक उपयोगी वह संगीत लगता है जिसमें प्रत्येक शब्द ही नहीं—प्रत्येक अक्षर की अपनी व्यक्तिगत स्थिति तथा उच्चारण होते हैं। संगीत का यह तत्व काव्य-तत्व के लिए सहायक होता है क्योंकि जब प्रत्येक अक्षर की स्थिति अलग होगी तो संगीत की सुविधा के लिए कविता में हलके, निरर्थक और यात्रा-पूर्ति के लिए चलताऊ शब्द आसानी से नहीं भरे जा सकेंगे। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दूँगा—'सोचता हूँ गीत लिखने से कहीं अच्छा...' एक कविता पंक्ति है। इसे विभाजित करना चाहें तो प्रत्येक अक्षर अलग-अलग बँट जाएगा—सो. च. ता. हूँ. गी. त. लि. ख ने. से. क. हीं. अ. च्छा...

आदि ! यहाँ प्रवाह तरल, वेगवान या 'स्लिपरी' नहीं है बल्कि झटके (jerk) खाता हुआ आगे बढ़ता है। संगीत की दृष्टि से भले ही यह तत्व हानिकर हो, काव्य की दृष्टि से संगत और उचित है।

कुछ-कुछ ऐसी ही बात अंग्रेज़ी छन्दशास्त्र का विश्लेषण करने पर जान पड़ती है, जहाँ पंक्तियों को दो-दो तीन-तीन शब्दांशों को (syllables) की यतियों में विभाजित कर दिया जाता है और फलतः संगीत गिरती-उठती लहरों जैसा प्रभाव देता है। अधिकांश अंग्रेज़ी कविता का संगीत इसी प्रकार अवरोह-आरोह पूर्ण शब्दांशों (syllables) को लेकर निर्मित हुआ है। इससे लाभ यह होता है कि प्रत्येक व्यंजन की स्थिति अलग होकर सम्मुख आती है, एक दूसरे से लिपटे हुए शब्द बहते नहीं चले जाते। अतः शब्द अपनी वास्तविक तथा सुस्पष्ट अर्थमत्ता को लेकर प्रकट होते हैं और काव्यार्थ को पूर्ण रूप से व्यंजित करते हैं।

नवम्बर + + +
+ + +

इक्कीस दिसम्बर

कुछ देर अजब पानी बरसा। बिजली तड़पी, कौंधा लपका। फिर घुटा-घुटा सा, घिरा-घिरा हो गया गगन का उत्तर-पूरब तरफ़ सिरा। बादल जब पानी बरसाए, तो दिखते हैं जो, वे सारे के सारे दृश्य नज़र आए। छप-छप, लप-लप, टिप टिप, दिप-दिप—ये भी क्या ध्वनियाँ होती हैं। सड़कों पर जमा हुए पानी में यहाँ-वहाँ, बिजली के बल्बों की रोशनियाँ झाँक-झाँक, सौ सौ खंडों में टूट-फूट कर रोती है।

यह बहुत देर तक हुआ किया। फिर चुपके से मौसम बदला। तब धीरे से सबने देखा—हर चीज धुली, हर बात खुली सी लगती है: जैसे ही पानी निकल गया।

यह जो आया है वर्ष नया! वह इसी तरह से खुला हुआ, वह इसी तरह का धुला हुआ बनकर छाये सबके मन में, लहराए सबके जीवन में!

दे सकते हो? दो यही दुआ!

गीत

रवीन्द्र अमर

चाँद को झुक झुक कर देखा है

साँझ की तलैया के
निर्मल जल-दर्पन में,
पारे सी बिछलन वाले
चमकीले मन में;
रूप की राशि को परेखा है ।

दिशा-बाहु-पाशों में
कस कर नभ साँवरे को,
कितना समझाया है
इस नैना बावरे को;
वह, पहचाने सुख की रेखा है ।

चाव से अँगारे चुगते-
चकोर के तन पर
दर्द के मारे हर-
पागलपन के छन पर;
भाग्य का लिखा हुआ लेखा है ।

चाँद को झुक झुक कर देखा है

सबेरा

जगदीश गुप्त

पौ फटी,
चुपचाप काले स्याह भँवराले अँधेरे की
घनी चादर हटी।

मखमूर आँखों में गई भर जोत
जब फूटा सुनहला सोत

सिंदूरी सबेरा बादलों की सैकड़ों स्लेटी तहों को
चीरकर इस भाँति उग आया
कि जैसे स्नेह से भर जाय मन की हर सुबह
हर वासना जैसे सुहागन बन उठे
घुर जाय हर सीमंत कुंकुम की सुलगती
ऊर्मियों से बेतरह

चुपचाप काले स्याह भँवराले अँधेरे की
घनी चादर हटी
पौ फटी !

स्वयंचेता

कीर्ति चौधरी

घाव तो अनगिन लगे,
कुछ भरे, कुछ रिसते रहे पर
बान चलने की नहीं छूटी

भाव तो हर पल उठे,
कुछ सिन्धु-वाणी में समाये, कुछ किनारे,
प्रीति सपनों से नहीं रूठी।

इस तरह हँस-रो चले हम,
पर किसी भी ओर से, संकेत की कोई
किरन भी तो नहीं फूटी।

चंदरिमा

गिरिजाकुमार माथुर

●

यह झकाझक रात
चांदनी उजली कि सूई में पिरो लो ताग
चांदनी को दिन समझ कर बोलते हैं काग
हो रही ताज़ी सफ़ेदी नए चूने से
पुत रहे घर द्वार
चांद पूरा साफ़
आर्ट पेपर ज्यों कटा हो गोल
चिकनी चमक का दलदार

यह नहीं चेहरा तुम्हारा
गोल पूनम सा
मांसल चीकने तन का
क्योंकि यह तो सामने ही दिख रहा है
रुक रहा है
यह नहीं अब तक हुआ
बरसों पुरानी बात
सूखी याद!

वह गई है फूल बीनने

वीरेन्द्रकुमार जैन

वह गई है फूल बीनने :
आसोज की तपती दुपहरिया में
सफ़ेद कमलों के कर्ण-फूल पसीने में भिगोती,
मधु-मक्खियों के उन्मन् गुंजन से गूंजते-कांपते
उस घाटीवाले वन में :
वह गई है फूल बीनने,
सन्ध्या के मण्डप-घर की दीवारों पर मांडने के लिये।

झरे पीत पत्तों से भरी उस सूनी बाट में
वह तकिया है क़िलेवाले साँईं का
उस जीर्ण फूटी दरगाह में।
बड़ी डरावनी लाल आँखें हैं उसकी;
पत्रहीन वृक्षों के सूखे डण्ठलों की
विरल छाया में बैठ कर
चरस वह पीता है।
लम्बी मेंहदी-रंगी डाढ़ी, घनी जटाएँ,
दैत्यों जैसे लम्बे दाँत हैं उसके।
चिमटा हिला-हिला कर गरजता है वह मेघ जैसा।
उसी रास्ते गई है वह फूल बीनने,
सन्ध्या के मण्डप-घर की दीवारों पर मांडने के लिये।

लो, आंगन में उतर आई साँझ की छायाएँ;
दूर के वनों पर आई धूप उतर रही है उस पार;
कम पड़ गई हैं बिसातियों की आवाजें;
निकल गया रेशमी टुकड़ों वाला;

निकल गया सखमे-सितारों वाला ।
निकल गया मनिहार-खिलौनों वाला,
निकल गया काबुली मेवे वाला,
पर हाय, वह तो अब तक नहीं आई :
वह गई है फूल बीनने
सन्ध्या के मण्डप-घर की दीवारों पर मांडने के लिये ।

लो, सन्ध्या मांडने की वेला सूनी ही बीत रही,
पड़ोस की लड़कियाँ तो सब जुटी हैं अपने काम में ।
उसकी दीवार पर दीखते हैं वही उजड़े उदासीन
कल के सन्ध्या-मण्डप के अवशेष !
गोबर की टोकनी सूनी पड़ी है कोने में,
निर्माल्या सन्ध्या के फूल हैं दूसरी टोकनी में :
साँझ के गहरे होते मौन में
एक अछोर विषाद की रागिणी उठ रही है उनमें से ।
पर हाय, वह तो नहीं आईः
वह गई है फूल बीनने
सन्ध्या के मण्डप-घर की दीवारों पर मांडने के लिये !

ढल गई प्रदोष-वेला,
वन-पथ खो गये अँधेरे में ।
दूर के घाटी वाले तमछाये वन पर
एक अकेली तारिका झिलमिल रोती-सी
लगती थी वन में खोई एकाकिनि बालिका-सी !
हाँ, उस बाद की फूटी दरगाह में
वह साँई रहता है चिमटेवाला ।...
हाय, वह तो नहीं आई :
वह गई है फूल बीनने
सन्ध्या के मंडप-घर की दीवारों पर मांडने के लिये !

तीन रोने वाली औरतें

श्री विपिन कुमार अग्रवाल

एक गाँव में तीन औरतें बहुत दुखी थीं।

पहली इसलिए कि उसका पति दुराचारी था और उसके बहुत बच्चे थे, जो सब ऊधमी थे। दूसरी इसलिए कि उसकी कोई संतान न थी। तीसरी इसलिए कि उसका पति उसे छोड़ कर चला गया था।

तीनों के हृदय में एक दिन अपने-अपने अभागेपन पर दुःख का ज्वार उमड़ आया। शांति पाने के हेतु वे देवी जी के मन्दिर की ओर चल दीं। मंदिर तक पहुँचने के लिए डेढ़ हजार सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती थीं। तीनों औरतें आँचल से आँसू पोंछती हुई और बुदबुदाती हुई पहिली सीढ़ी पर ही मिल गईं।

चढ़ते समय वे एक दूसरे को अपनी-अपनी गाथा सुनाने लगीं। यह कार्य ५०० सीढ़ियाँ चढ़ने तक पूर्ण हो गया और वे सुस्ताने के लिए बैठ गईं। एक दूसरे से सहानुभूति पाने के लिए सब एक साथ बोल उठीं, 'देखौ बहिनी, हमरे ऊपर कैसी विपता फाट पड़ी है।'

अगली ५०० सीढ़ियाँ चढ़ते समय वे चुपचाप विचार करती रहीं और जब विश्राम के लिए बैठीं तो एक साथ एक दूसरे के लिये बोल उठीं।

'चु-चु-चु! देखो तो बहिनी पर कैसन विपत फाट पड़ी है, अब तो देवी जी ही पार लगइहिएं।'

अंतिम ५०० सीढ़ियाँ चढ़ते समय पहली बोली, 'भला भवा कि तुहार मनसेध छोड़ कर चला गवा। मोर तो मुए के मारे जीना दूभर हुइ गवा है।'

दूसरी बोली, 'अच्छा भवा तुहरे एतने बालक हुइ गएं, मौका तो सून घर खाए बरे दौड़त है।'

तीसरी बोली, 'नीक भवा कि तुहार मनसेधू घरहिन पर है, जैसने होय, है तो आपन!'

और जब अंतिम सीढ़ी पर पहुँची तो रुक गई। सब असमंजस में पड़ सोचने लगीं कि देवी जी से क्या माँगेंऽऽ!!

मोती

गंगाप्रसाद पाँडेय

जाड़े की एक सुबह। कवि, कवि-पत्नी और छोटी नटखट मुन्नी घर के पूर्वी बरामदे में बैठे सूरज निकलने की प्रतीक्षा कर रहे थे। सामने घास के मैदान में ओस की दूधिया बूँदें बिछी हुई थीं। कवि ने पत्नी से कहा—देखो प्रकृति ने तुम्हारे शृङ्गार के लिए कितने मोती बिखेर रखे हैं?

कवि-पत्नी, पति की अकर्मण्यता तथा गरीबी के कारण चिड़-चिड़े स्वभाव की हो गई थी। उसने व्यंग किया—"तुम्हारे पुरुषार्थ में मैं तो जी भर कर मोतियों का हार पहन चुकी, किन्तु तुम इन्हीं मोतियों से अपनी परम प्रिय चाय खरीद लाते तो ज्यादा अच्छा होता, रोज की झांय झांय बन्द होती।"

"अरे हां, चाय की एक पुड़िया मेरी जेब में है", उसे अकस्मात याद पड़ा—"उठो जरा जल्दी चाय बना दो।" पत्नी बड़बड़ाती हुई भीतर चली गई। सूरज की किरणें सामने के मैदान में थिरकने लगीं और ओस की बूदें और अधिक चमक उठीं।

मुन्नी ने एकान्त पाकर सोचा—क्यों न वह इन मोतियों को बीन ले और अपनी गुड़िया की माला बनावे? उसका मन उल्लास में उछलने लगा। वह दौड़कर उस मैदान में घुसी और मोतियों के बटोरने का प्रयत्न करने लगी। पानी की हिमानी तरलता के सिवाय

उसके हाथों में कुछ नहीं आया। शीत से उसके नन्हें हाथ ठिठुरने लगे। वह रोती हुई मां के पास गई और हिचक हिचक कर कहने लगी—"मां बाबू जी झूठ बोलते हैं, घास पर मोती नहीं, ठंडा पानी है।"

मुन्नी की मां क्षण भर चुप रही, फिर जाने कैसी भावुकता उसमें लहरा उठी और वह बोली—"पगली रोती क्यों है? ये मोती अगर तेरे हाथों में नहीं आए तो आंखों में तो आ गए!"

पुरानी सड़क, नई पगडण्डी

वैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा

एक ऊबड़-खाबड़, सकरी, अनजान पगडण्डी को अपने बगल के सघन बन में चुपचाप सरकते देख कर सड़क अत्यन्त उपेक्षा के स्वर में, बोली, 'पागल पगडण्डी! इस तरह विद्रोह करके और चोरों की तरह लुकती-छिपती तू समझती है मेरा मुकाबिला कर सकेगी—मेरी प्रतिष्ठा को बाँट सकेगी?'

पगडण्डी कटीली झाड़ियों से घिरे एक शिलाखण्ड को तोड़ कर आगे बढ़ रही थी। सहसा चौंक कर रुक गई, और पीछे मुड़कर मुस्कराती हुई बड़े विश्वास भरे स्वर में बोली, 'अभी जितनी चाहे खिल्ली उड़ा लो—मैं कुछ नहीं बोल सकती—पर अगर हिम्मत पड़े तो यही प्रश्न कभी उस नई सड़क से पूछना जो एक दिन मेरी छाती पर बनेगी—वह तुम्हें भरपूर उत्तर देगी—मैं क्या बोलूं—मैं तो अभी उसकी बुनियाद मात्र हूं!'

सड़क उपेक्षा से हंसती तो रही; पर उसकी नींव सहसा आशंका से सिहर उठी क्योंकि वह भी एक दिन पगडण्डी ही थी।

पहाड़ की शाम

बालकृष्ण राव

चोटियाँ ही चोटियाँ अब दीखती हैं;
इस पहाड़ी प्रान्त में केवल इन्हीं पर
अस्त होते सूर्य की किरणें चमकतीं—
शीश पर इनको उठाने के लिये ही
जान पड़ता है कि ये पर्वत खड़े हैं।

घेरता जाता इन्हें बढ़ता अँधेरा
ज्योति ज्यों ज्यों घाटियों को छोड़ नीचे
जा रही है दीप शिखरों पर जलाने,
है अँधेरे में शिला, जिस पर खड़े हो
देखते विस्तार समतल भूमि का हम,
लग रही ऊँची क्षितिज की यवनिका सी।

आह! इस नीची शिला पर भी न जाने
पाँव रख आकाश कितनों का खड़ा है;
पा रहीं हैं क्षितिज कितनों की निगाहें!

गुलकी बन्नो

धर्मवीर भारती

इस कथा में कुछ स्थान और कुछ पात्र ऐसे हैं
जो लेखक के एक उपन्यास में भी आये हैं,
किन्तु यह कथा अपने में स्वतंत्र कृति है।

"ऐ मर कलमुहें!" अकस्मात घेघा बुआ ने कूड़ा फेंकने के लिये दरवाज़ा खोला और चौतरे पर बैठे मिरवा को गाते हुए देख कर कहा—"तोरे पेट में फोनोगिराफ़ उलियान बा का, जौन भिनसार भवा कि तान तौड़ै लाग? राम जाने, रात के कैसन एकरा दीदा लागत है!" मारे डर के कि कहीं घेघा बुआ सारा कूड़ा उसी के सर पर न फेंक दें, मिरवा थोड़ा खसक गया और ज्योंही घेघा बुआ अन्दर गई कि फिर चौतरे की सीढ़ी पर बैठ, पैर झुलाते हुए मिरवा ने उलटा सुलटा गाना शुरू किया—'तुमें बछ याद कलते अम छनम तेली कछम!' मिरवा की आवाज़ सुनकर जाने कहाँ से झबरी कुतिया भी कान पूँछ झटकारते आ गई और नीचे सड़क पर बैठ कर मिरवा का गाना बिलकुल उसी अन्दाज़ में सुनने लगी जैसे हिज़ मास्टर्स वायस के रिकार्ड पर तस्वीर बनी होती है।

अभी सारी गली में सन्नाटा था। सबसे पहले मिरवा (असली नाम मिहिरलाल) जागता था और आँख मलते-मलते घेघा बुआ के चौतरे पर आ बैठता था। उसके बाद झबरी कुतिया, फिर मिरवा की छोटी बहन मटकी और उसके बाद एक एक कर गली के तमाम बच्चे—खोंचे वाली का लड़का मेवा, ड्राइवर साहब की लड़की निरमल, मनीजर साहब के मुन्ना बाबू—सभी आ जुटते थे। जब से गुलकी ने घेघा बुआ के चौतरे पर तरकारियों की दूकान रक्खी थी तब से यह जमावड़ा वहाँ होने लगा था। उसके पहले बच्चे हकीम जी के चौतरे पर खेलते थे। धूप निकलते निकलते गुलकी सट्टी से तरकारियाँ खरीद कर अपनी कुबड़ी पीठ पर लादे, डंडा टेकती आती और अपनी दूकान फैला देती।

मूरी, नीबू, कद्दू, लौकी, घिया-बण्डा, कभी-कभी सस्ते फल ! मिरवा और मटकी जानकी उस्ताद के बच्चे थे जो एक भयंकर रोग में गल-गल कर मरे थे और दोनों बच्चे भी विकलांग, विक्षिप्त और रोगग्रस्त पैदा हुए थे। सिवा झबरी कुतिया के और कोई उनके पास नहीं बैठता था और सिवा गुलकी के कोई उन्हें अपनी देहरी या दूकान पर चढ़ने नहीं देता था।

आज भी गुलकी को आते देख कर सबसे पहले मिरवा गाना छोड़ कर बोला "छलाम गुलकी !" और मटकी अपने बढ़ी हुई तिल्ली वाले पेट पर से खिसकता हुआ जांघिया सम्हालते हुए बोली—"एक ठो मूली दै देव ! ए गुलकी !" गुलकी पता नहीं किस बात से खीजी हुई थी कि उसने मटकी को झिड़क दिया और अपनी दूकान लगाने लगी। झबरी भी पास गई कि गुलकी ने डण्डा उठाया। दूकान लगा कर गुलकी अपनी कुबड़ी पीठ दुहरा कर बैठ गई और जाने किसे बुड़बुड़ा कर गालियाँ देने लगी। मटकी एक क्षण चुपचाप खड़ी रही फिर उसने रट लगाना शुरू किया—"एक मूरी ! ए गुलकी ! एक..."गुलकी ने फिर झिड़का तो चुप हो गई और अलग हट कर लोलुप नेत्रों से सफ़ेद धुली हुई मूलियों को देखने लगी। इस बार वह बोली नहीं। चुपचाप उन मूलियों की ओर हाथ बढ़ाया ही था कि गुलकी चीखी—"हाथ हटाओ ! छूना मत। कोढ़िन कहीं की ! कहीं खाने पीने की चीज़ देखी कि जोंक की तरह चिपक गई, चल उधर !" मटकी पहले तो पीछे हटी पर फिर उसकी तृष्णा ऐसी अदम्य हो गई कि उसने हाथ बढ़ा कर एक मूली खींची। गुलकी का मुंह तमतमा उठा और उसने बांस की खपच्ची उठा कर उसके हाथ पर चट से मारी ! मूली नीचे जा गिरी और "हाय ! हाय ! हाय !" कर दोनों हाथ झटकते हुए मटकी पाँव पटक-पटक कर रोने लगी। "जावो अपने घर रोओ ! हमारी दूकान पर मरने को गली भर के बच्चे हैं।" गुलकी चीखी ! "दूकान दैके हम बिपता मोल लै लिया। छन भर पूजा-भजन में भी कचरधाँव मची रहती है !" अन्दर से घेघा बुआ ने स्वर मिलाया। खासा हंगामा मच गया कि इतने में झबरी भी खड़ी हो गई और लगी उदात्त स्वर में भूंकने। 'लेफ्ट राइट ! लेफ्ट राइट !' चौराहे पर तीन-चार बच्चों का जुलूस चला आ रहा था। आगे-आगे दर्जा ५ में पढ़ने वाले मुन्ना बाबू नीम की संटी को झण्डे की तरह थामे जुलूस का नेतृत्व कर रहे थे, पीछे थे मेवा और निरमल। जलूस आकर दूकान के सामने रुक गया। गुलकी सतर्क हो गई। दुश्मन की ताकत बढ़ गई थी।

मटकी सिसकते सिसकते बोली—"इनने गुलकी मारिस है। हाय !

हाय ! हमके नरिया में ढकेल दिहिस। अरे बाप रे !" निरमल, मेवा, मुन्ना सब पास आकर उसकी चोट देखने लगे। फिर मुन्ना ने ढकेल कर सबको पीछे हटा दिया और सण्टी लेकर तन कर खड़े हो गये—"किसने मारा है इसे !"

"हम मारा है !" कुबड़ी गुलकी ने बड़े कष्ट से खड़े होकर कहा—"का करोगे ? हमें मारोगे !" "मारेंगे क्यों नहीं ?" मुन्ना बाबू ने अकड़ कर कहा। गुलकी इसका कुछ जवाब देती कि बच्चे पास घिर आये। मटकी ने जीभ निकाल कर मुँह बिराया, मेवा ने पीछे जाकर कहा—"ए कुबड़ी, ए कुबड़ी, अपना कूबड़ दिखाओ !" और एक मुट्ठी धूल उसकी पीठ पर छोड़ कर भागा। गुलकी का मुँह तमतमा आया और रुंधे गले से कराहते हुए उसने पता नहीं क्या कहा। किन्तु उसके चेहरे पर भय की छाया बहुत गहरी हो गई थी। बच्चे सब एक-एक मुट्ठी धूल लेकर शोर मचाते हुए दौड़े कि अकस्मात घेघा बुआ का स्वर सुनाई पड़ा—"ए मुन्ना बाबू, जात हौ कि अबहिन बहिन जी का बुलवाय के दुइ चार कनेठी दिलवाई !" "जाते तो हैं !" मुन्ना ने अकड़ते हुए कहा—"ए मिरवा बिगुल बजाओ !" मिरवा ने दोनों हाथ मुंह पर रखकर कहा—धुतु धुतु धू। जलूस चल पड़ा और कप्तान ने नारा लगाया—

अपने देस में अपना राज !

गुलकी की दूकान बाईकाट !

नारा लगाते हुए जलूस गली में मुड़ गया। कुबड़ी ने आँसू पोंछे, तरकारी पर से धूल झाड़ी और साग पर पानी के छींटे देने लगी।

गुलकी की उम्र ज्यादा नहीं थी। यही हद से हद २५-२६। पर चेहरे पर झुर्रियाँ आने लगी थीं और कमर के पास से वह इस तरह दोहरी हो गई थी जैसे ८० वर्ष की बुढ़िया हो। बच्चों ने जब पहली बार उसे मुहल्ले में देखा तो उन्हें ताज्जुब भी हुआ और थोड़ा भय भी। कहाँ से आई ? कैसे आ गई ? पहले कहाँ थी ? इसका उन्हें कुछ अनुमान नहीं था। निरमल ने जरूर अपनी माँ को उसके पिता ड्राइवर से रात को कहते हुए सुना, "यह मुसीबत और खड़ी हो गई। मरद ने निकाल दिया तो हम थोड़े ही यह ढोल गले बाँधेंगे। बाप अलग हम लोगों का रुपया खा गया। सुना चल बसा तो कहीं मकान हम लोग न दखल कर लें तो मरद को छोड़ कर चली आई। खबरदार जो चाभी दी तुमने।"

"क्या छोटेपन की बात करती हो। रुपया उसके बाप ने ले लिया तो क्या हम उसका मकान मार लेंगे ? चाभी हमने दे दी है। दस पांच दिन का नाजपानी भेज दो उसके यहाँ।"

"हाँ-हाँ सारा घर उठा के भेज देव। सुन रही हो घेघा बुआ।"

"तो का भवा बहू, अरे निरमल के बाबू से तो एकरे बाप की दाँत काटी रही।" घेघा बुआ की आवाज़ आई—"बेचारी बाप की अकेली संतान रही। एही के बियाह में मटियामेट हुइ गवा। पर ऐसे कसाई के हाथ में दिहिस कि पाँचै बरस में कूबड़ निकर आवा।

"साला यहाँ आवे तो हंटर से खबर लूँ मैं।" ड्राइवर साहब बोले—"पांच बरस बाद बाल-बच्चा हुआ। अब मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ तो उसमें इसका क्या कसूर। साले ने सीढ़ी से ढकेल दिया। जिन्दगी भर के लिए हड्डी खराब हो गई न। अब कैसे गुजारा हो उसका?"

"बेटवा एको दुकान खुलवाय देव। हमरा चौतरा खाली पड़ा है। यही रुपया दुइ रुपया किराया दै देवा करै, दिन भर अपना सौदा लगाय ले। हम का मना करित है? एत्ता बड़ा चौतरा मुहल्लेवालन के काम न आई तो का हम छाती पर धै लै जाब! पर हाँ, मुला रुपया दै देवा करै।"

दूसरे दिन यह सनसनी खेज खबर बच्चों में फैल गई। वैसे तो हकीम जी का चबूतरा बड़ा था, पर वह कच्चा था, उस पर छाजन नहीं थी। बुआ का चौतरा लम्बा था, उस पर पत्थर जड़े थे। लकड़ी के खम्भे थे। उस पर टीन छाई थी। कई खेलों की सुविधा थी। खम्भों के पीछे किलकिल काँटे की लकीरें खीचीं जा सकती थी। एक टाँग से उचक उचक कर बच्चे चिबिड्डी खेल सकते थे। पत्थर पर लकड़ी का पीढ़ा रख कर नीचे से मुड़ा हुआ तार घुमा कर रेलगाड़ी चला सकते थे। जब गुलकी ने अपने दुकान के लिए चबूतरे के खम्भों में बाँस बाँधे तो बच्चों को लगा कि उनके साम्राज्य में किसी अज्ञात शत्रु ने आकर किलेबन्दी करली है। वे सहमे हुए दूर से कुबड़ी गुलकी को देखा करते थे। निरमल ही उसकी एक मात्र संवाद-दाता थी और निरमल का एक मात्र विश्वस्तसूत्र था उसकी माँ। उससे जो सुना था उसके आधार पर निरमल ने सबको बताया था कि यह चोर है। इसका बाप १०० रुपया चुरा कर भाग गया। यह भी उसके घर का सारा रुपया चुराने आई है। 'रुपया चुरायेगी तो यह भी मर जायेगी।' मुन्ना ने कहा 'भगवान सबको दण्ड देता है।' निरमल बोली—'सुसराल में भी रुपया चुराए होगी।' मेवा बोला, 'अरे कूबड़ थोड़े है। ओही रुपया बाँधे है पीठ पर। मनसेधू का रुपया है।' 'सचमुच?' निरमल ने अविश्वास से कहा। 'और नहीं क्या। कूबड़ थोड़े है। है तो दिखावै!' मुन्ना द्वारा उत्साहित होकर मेवा पूछने ही जा

रहा था कि देखा साबुन वाली सत्ती खड़ी बात कर रही है गुलकी से—कह रही थी—"अच्छा किया तुमने ! मेहनत से दूकान करो । अब कभी थूकने भी न जाना उसके यहाँ । हरामजादा, दूसरी औरत करले, चाहे दस और कर ले । सब का खून उसी के मत्थे चढ़ेगा । यहाँ कभी आवे तो कहलाना मुझ से । इसी चाकू से दोनों आंखें निकाल लूंगी ।"

बच्चे डर कर पीछे हट गये चलते चलते सत्ती बोली—"कभी रुपये पैसे की जरूरत हो तो बताना बहिना ।"

कुछ दिन बच्चे डरे रहे । पर अकस्मात उन्हें यह सूझा कि सत्ती को यह कुबड़ी डराने के लिए बुलाती है । इसने उनके गुस्से में घी का काम किया । पर कर क्या सकते थे । अन्त में उन्होंने एक तरीका ईजाद किया । वे एक बुढ़िया का खेल खेलते थे । उसको उन्होंने संशोधित किया । मटकी को लैमजूस देने का लालच देकर कुबड़ी बनाया गया । वह उसी तरह पीठ दोहरी करके चलने लगी । बच्चों ने सवाल जवाब शुरू किये—

"कुबड़ी कुबड़ी का हेराना ?"
"सुई हिरानी ।"
"सुई लैके का करबे ?"
"कन्था सीबै !"
"कन्था सी के क्या करबे ?"
"लकड़ी लाबै !"
"लकड़ी लाय के क्या करबे ?"
"भात पकइबै !"
"भात पकाय के का करबे ?"
"भात खाबै !"
"भात के बदले लात खाबे ?"

और इसके पहले कि कुबड़ी बनी हुई मटकी कुछ कह सके, वे उसे जोर से लात मारते और मटकी मुँह के बल गिर पड़ती, उसकी कोहनियाँ और घुटने छिल जाते, आंख में आँसू आ जाते और होंठ दबा कर वह रुलाई रोकती, बच्चे खुशी से चिल्लाते "मार डाला कुबड़ी को । मार डाला कुबड़ी को ।" गुलकी यह सब देखती और मुँह फेर लेती ।

एक दिन जब इसी प्रकार मटकी को कुबड़ी बना कर गुलकी की दुकान के सामने ले गये तो इसके पहले मटकी जवाब दे उन्होंने अनचित्ते में उसे इतनी जोर से ढकेल दिया कि वह कुहनी भी न टेक सकी और सीधे मुँह के बल गिरी। नाक, होंठ और भौंह खून से लथपथ हो गये। वह 'हाय! हाय!' कर इस बुरी तरह चीखी कि लड़के 'कुबड़ी मर गई!' चिल्लाते हुए भी सहम गये और हतप्रभ हो गये। अकस्मात उन्होंने देखा कि गुलकी उठी। वे जान छोड़ कर भागे। पर गुलकी उठ कर आई, मटकी को गोद में लेकर पानी से उसका मुँह धोने लगी और धोती से खून पोंछने लगी। बच्चों ने पता नहीं क्या समझा कि वह मटकी को मार रही है, या क्या कर रही है कि वे अकस्मात उस पर टूट पड़े। गुलकी की चीखें, सुनकर मुहल्ले के लोग आये तो उन्होंने देखा कि गुलकी के बाल बिखरे हैं, दाँत से खून बह रहा है, अधउघारी चबूतरे के नीचे पड़ी है, और सारी तरकारी सड़क पर बिखरी है। घेघा बुआ ने उसे उठाया, धोती ठीक की। और बिगड़ कर बोलीं "औकात रत्ती भर नै, और तेहा पौवा भर। आपन बखत देख के चुप नै रहा जात। काहे लड़कन के मुँह लगत हौ?" लोगों ने पूछा तो कुछ नहीं बोली। जैसे उसे पाला मार गया हो। उसने चुपचाप अपनी दुकान ठीक की और दाँत से खून पोंछा कुल्ला किया और बैठ गई।

उसके बाद अपने उस कृत्य से बच्चे जैसे खुद सहम गये थे। बहुत दिन तक वे शांत रहे। आज जब मेवा ने उसकी पीठ पर धूल फेंकी तो जैसे उसे खून चढ़ गया पर फिर न जाने वह क्या सोचकर चुप रह गई और जब नारा लगाते हुए जलूस गली में मुड़ गया तो उसने आँसू पोंछे, पीठ पर से धूल झाड़ी और साग पर पानी छिड़कने लगी। "लड़के का हैं गल्ली के राच्छस हैं!" घेघा बुआ बोलीं। "अरे उन्हें काहे कहौ बुआ! हमारा भाग ही खोटा है!" गुलकी ने गहरी साँस लेकर कहा।......

२

इस बार जो झड़ी लगी तो पाँच दिन तक लगातार सूरज के दर्शन नहीं हुए। बच्चे सब घर में कैद थे और गुलकी कभी दूकान लगाती थी, कभी नहीं। राम राम करके छठवें दिन तीसरे पहर झड़ी बन्द हुई। बच्चे हकीम जी के चौतरे पर जमा हो गये। मेवा बिलबोटी बीन लाया था और निरमल ने

टपकी हुई निमकौड़ियाँ बीन कर एक दूकान लगा ली थी और गुलकी की तरह आवाज लगा रही थी—"ले खीरा, आलू, मूरी, घियाबएडा !" थोड़ी देर में काफी शिशु ग्राहक दूकान पर जुट गये। अकस्मात शोरगुल को चीरता हुआ बुआ के चौतरे से गीत का स्वर उठा। बच्चों ने घूम कर देखा मिरवा और मटकी गुलकी की दूकान पर बैठे हैं। मटकी खीरा खा रही है और मिरवा झबरी का सर अपनी गोद में रक्खे बिल्कुल उसकी आँखों में आँखें डाल कर गा रहा है।

तुरन्त मेवा गया और पता लगा कर लाया कि गुलकी ने दोनों को एक एक अधन्ना दिया है और दोनों मिल कर झबरी कुतिया के कीड़े निकाल रहे हैं। चौतरे पर हलचल मच गई और मुन्ना ने कहा—"निरमल! मिरवा मटकी को एक भी निमकौड़ी मत देना। रहें उसी कुबड़ी के पास।" "हाँ जी!" निरमल ने आँख चमका कर गोल मुँह करके कहा— "हमार अम्मा कहत रहीं उन्हें छुयो न। न साथ खायो, न खेलो। उन्हें बड़ी बुरी बीमारी है।" "आक थू!" मुन्ना ने उनकी ओर देख कर उबकाई जैसा मुँह बना कर थूक दिया।

गुलकी बैठी बैठी सब समझ रही थी और जैसे इस निरर्थक घृणा में उसे कुछ रस सा आने लगा था। उसने मिरवा से कहा "तुम दोनों मिल के गाओ तो एक अधन्ना दें। खूब ज़ोर से!" दोनों भाई बहन ने गाना शुरू किया—"माल कताली मल जाना, पल अकियाँ किछी से..." अकस्मात फटाक से दरवाजा खुला और एक लोटा पानी दोनों के ऊपर फेंकती हुई मेवा बुआ गरजीं—"दुर कलमुँहे। अबहिन बिसौ भर के नाहीं ना और पतुरियन के गाना गावै लगे। न बहन का ख्याल, न बिटिया का। और ए कुबड़ी हम तुहूँ से कहे देइत हैं कि हम चकलाखाना खोलै के बरे अपना चौतरा नहीं दिया रहा। हुँह! चली हुँआ से मुजरा करावे।"

गुलकी ने पानी उधर छिटकाते हुए कहा—"बुआ, बच्चे हैं। गा रहे हैं। कौन कसूर हो गया।"

"ऐ हाँ! बच्चे हैं। तुहूँ तो दूध पियत बच्ची हो। कह दिया कि जबान न लड़ायो हम से; हाँ! हम बहुतै बुरी हैं। एक तो पाँच महीने से किरावा नाहीं दियो और हियाँ दुनियाँ भर के अन्धे कोढ़ी बटुरे रहत हैं। चलौ उठाओ अपनी दुकान हियाँ से। कल से न देखी हियाँ तुम्हें। राम! राम! सब अधरम की सन्तान राच्छस पैदा भये हैं मुहल्ले में! धरतियौ नाहीं फाटत कि मर बिलाय जाँय।"

गुलकी सन्न रह गयी। उसने किराया सचमुच पाँच महीने से नहीं दिया था। बिक्री ही नहीं थी। मुहल्ले में कोई उससे कुछ लेता ही नहीं था

पर इसके लिए बुआ उसे निकाल देंगी यह उसे कभी आशा नहीं थी । वैसे ही महीने में २० दिन वह भूखी सोती थी । धोती में १०, १० पैबन्द थे । मकान गिर चुका था । एक दालान में थोड़ी सी जगह में वह सो जाती थी । पर दुकान तो वहाँ रखी नहीं जा सकती । उसने चाहा कि वह बुआ के पैर पकड़ ले, मिन्नत कर ले । पर बुआ ने जितनी जोर से दरवाजा खोला था उतनी ही जोर से बन्द कर दिया । जब से चौमासा आया था, पुरवाई बही थी उसकी पीठ में भयानक पीड़ा उठती थी । उसके पाँव काँपते थे । सट्टी में उस पर उधार बुरी तरह चढ़ गया था । पर अब होगा क्या ? वह मारे खीज के रोने लगी ।

इतने में कुछ खटपट हुई और उसने घुटनों से मुँह उठा कर देखा कि मौक़ा पाकर मटकी ने एक ताजा फूट निकाल लिया है और मरभुखी की तरह उसे हबर हबर खाती जा रही है । एक क्षण वह उसके फूलते पचकते पेट को देखती रही, फिर खयाल आते ही कि फूट पूरे १० पैसे का है, वह उबल पड़ी और सड़ासड़ तीन-चार खपच्ची मारते हुए बोली—"चोट्टी ! कुतिया ! तोरे बदन में कीड़ा पड़ें !" मटकी के हाथ से फूट गिर पड़ा पर वह नाली में से फूट के टुकड़े उठाते हुए भागी । न रोई न चीखी क्योंकि मुंह में भी फूट भरा था । मिरवा हक्काबक्का इस घटना को देख रहा था कि गुलकी उसी पर बरस पड़ी । सड़-सड़ उसने मिरवा को मारना शुरू किया—"भाग यहाँ से । हराम-जादे ।" मिरवा दर्द से तिलमिला उठा—"हमला पइछा देब तो जाईं ।" "देते हैं पैसा, ठहर तो ।" सड़ ! सड़ !...रोता हुआ मिरवा चौतरे की ओर भागा ।

निरमल की दुकान पर सन्नाटा छाया था । सब चुप उसी ओर देख रहे थे । मिरवा ने आकर कुबड़ी की शिकायत मुन्ना से की । मुन्ना चुप रहा । फिर मेवा की ओर घूम कर बोला—"मेवा बता दो इसे !" मेवा पहले हिचकिचाया फिर बड़ी मुलायमियत से बोला—"मिरवा तुम्हें बीमारी हुई है न ! तो हम लोग अब तुम्हें नहीं छुएँगे । साथ नहीं खिलाएँगे । तुम उधर बैठ जाओ ।"

"हम बिमाल हैं मुन्ना ?"

मुन्ना कुछ पिघला—"हाँ, हमें छुओ मत । निमकौड़ी खरीदना हो तो उधर बैठ जाओ, हम दूर से फेंक देंगे ! समझे !" मिरवा समझ गया, सर हिलाया और अलग जाकर बैठ गया । मेवा ने निमकौड़ी उसके पास रख दी और वह चोट भूल कर पकी निमकौड़ी का बीजा निकाल कर छीलने लगा ।

इतने में ऊपर से बेधा बुआ की आवाज आई—"ऐ मुन्ना ! तई त लोग परे हो जाओ ! अबहिन पानी गिरी ऊपर से !" बच्चों ने ऊपर देखा । खिड़की

पर बैधा बुआ कछोटा मारे पानी में छप छप करती घूम रही थीं। कूड़े से तिछत्ते की नाली बन्द थी और पानी भरा था। जिधर बुआ खड़ी थीं उसके ठीक नीचे गुलकी का सौदा था। बच्चे वहाँ से दूर थे पर गुलकी को सुनाने के लिए बात बच्चों से कही गई थी। गुलकी कराहती हुई उठी। कूबड़ की वजह से वह तनकर तिछत्ते की ओर देख भी नहीं सकती थी। उसने धरती की ओर देखकर ऊपर बुआ से कहा "इधर की नाली काहे खोल रही हो? उधर की खोलो न!"

"काहे उधर की खोली! उधर हमार चौका है कि नै!"

"इधर हमारा सौदा लगा है।"

"ऐ है!" बुआ हाथ चमकाकर बोलीं—"सौदा लगा है रानी साहब का! किरावा देय के दाईं हियाव फाटत है और टर्राय के दाईं नटई में गामा पहिलवान का जोर तो देखौ! सौदा लगा है तो हम का करी। नारी तो इहै खुली!"

"खोलो तो देखें।" अकस्मात गुलकी ने तड़पकर कहा—आज तक किसी ने उसका वह स्वर नहीं सुना था—"पाँच महीने का दस रुपया नहीं दिया बेसक, पर हमारे घर की धन्नी निकाल के बसन्तू के हाथ किसने बेचा? तुमने! पच्छिम ओर का दरवाजा चिरवा के किसने जलवाया? तुमने। हम गरीब हैं। हमरा बाप नहीं है। सारा मुहल्ला हमें मिल के मार डालो।"

"हमें चोरी लगाती है। अरे कल की पैदा हुई।" बुआ मारे गुस्से के खड़ी बोली बोलने लगी थीं।

बच्चे चुप खड़े थे। वे कुछ-कुछ सहमे हुए थे। कुबड़ी का यह रूप उन्होंने कभी न देखा था, न सोचा था।

"हाँ! हाँ! हाँ! तुमने, ड्राइवर चाचा ने, चाची ने, सबने मिलके हमारा मकान उजाड़ा है। अब हमारी दुकान बहाय देव। देखेंगे हम भी। निरबल के भी भगवान हैं!"

"ले! ले! ले! भगवान हैं तो ले!" और बुआ ने पागलों की तरह दौड़कर नाली में जमा कूड़ा लकड़ी से ठेल दिया। छः इञ्च मोटी गन्दे पानी की धार धड़-धड़ करती हुई उसकी दुकान पर गिरने लगी। तरोइयाँ पहले नाली में गिरीं, फिर मूली, खीरे, साग, अदरक उछल-उछल कर दूर जा गिरे। गुलकी आँख फाड़े पागल सी देखती रही और फिर दीवार पर सर पटक कर हृदयविदारक स्वर में डकराकर रो पड़ी—"अरे मोर बाबू—हमें कहाँ छोड़ गये—अरे मोरी माई! पैदा होते ही हमें क्यों नहीं मार डाला! अरे धरती मैया हमें काहे नहीं लील लेती।"

सर खोले बाल बिखेरे छाती कूट कूट कर वह रो रही थी और तिछत्ते का पिछले नौ दिन का जमा पानी घड़-घड़ घड़-घड़ गिर रहा था।

बच्चे चुप खड़े थे। अब तक तो जो हो रहा था उनकी समझ में आ रहा था। पर आज यह क्या हो गया यह उनकी समझ नहीं आ सका। पर वे कुछ बोले नहीं। सिर्फ मटकी उधर गई और नाली में बहता हुआ एक मोटा हरा खीरा निकालने लगी कि मुन्ना ने डाँटा "खबरदार! जो कुछ चुराया।" मटकी पीछे हट गई। वे सब किसी अप्रत्याशित भय, संवेदना या आशंका से जुड़ बटुर कर खड़े हो गये। सिर्फ मिरवा अलग सर झुकाए खड़ा था। झींसी फिर पड़ने लगी थी और वे एक-एक कर अपने घर चले गये।

दूसरे दिन चौतरा खाली था। दुकान का बांस उखड़वा कर बुआ ने नांद में गाड़ कर उस पर तुरई की लतर चढ़ा दी थी। उस दिन बच्चे आये पर उनकी हिम्मत उस चौतरे पर जाने की नहीं हुई। जैसे वहाँ कोई मर गया हो। बिलकुल सुनसान चौतरा था और फिर तो ऐसी झड़ी लगी तो बच्चों का निकलना बन्द। चौथे या पाँचवें दिन रात को भयानक वर्षा तो हो ही रही थी पर बादल भी ऐसे गरज रहे थे कि मुन्ना अपनी खाट से उठकर अपनी माँ के पास घुस गया। बिजली चमकते ही जैसे कमरा रोशनी से नाच नाच उठता था। छत पर बूँदों की पटर-पटर कुछ धीमी हुई, थोड़ी हवा भी चली और पेड़ों का हरहर सुनाई पड़ा कि इतने में घड़ घड़ घड़ धड़ाम! भयानक आवाज हुई। माँ भी चौंक पड़ीं। पर उठीं नहीं। मुन्ना आंखें खोले अँधेरे में ताकने लगा। सहसा लगा मुहल्ले में कुछ लोग बातचीत कर रहे हैं। घेवा बुआ की आवाज सुनाई पड़ी—'किसका मकान गिरा है रे!' 'गुलकी का?'—किसी का दूरागत उत्तर आया। 'अरे बाप रे! दब गई क्या?' 'नहीं आज तो मेवा की माँ के यहाँ सोई है!' मुन्ना लेटा था और उसके ऊपर अन्धेरे में यह सवाल जवाब इधर से उधर और उधर से इधर जा रहे थे। वह फिर कांप उठा, मां के पास घुस गया और सोते-सोते उसने साफ सुना—कुबड़ी फिर उसी तरह रो रही है, गला फाड़ कर रो रही है! कौन जाने मुन्ना के ही आंगन में बैठकर रो रही हो। नींद में वह स्वर कभी दूर कभी पास आता हुआ ऐसा लग रहा है जैसे कुबड़ी मुहल्ले के हर आँगन में जाकर रो रही हो पर कोई सुन नहीं रहा, सिवा मुन्ना के।

३

बच्चों के मन में कोई बात इतनी गहरी लकीर नहीं बनाती कि उधर से उनका ध्यान हटे ही नहीं। सामने गुलकी थी तो वह एक समस्या थी, पर उसकी दूकान हट गई, फिर वह जाकर साबुन वाली सत्ती के गलियारे में सोने लगी और दो चार घर से मांग जाँच कर खाने लगी, उस गली में दिखाती ही नहीं थी। बच्चे भी दूसरे कामों में व्यस्त हो गये। अब जाड़े आ रहे थे तो उनका जमा-वड़ा सुबह न होकर तीसरे पहर होता था। जमा होने के बाद जलूस निकलता था और जिस जोशीले नारे से गली गूंज उठती थी वह था—'घेघा बुआ को वोट दो।' पिछले दिनों म्युनिसिपैलटी का चुनाव हुआ था और उसी में बच्चों ने यह नारा सीखा था। वैसे कभी कभी बच्चों में दो पार्टियां भी होती थी, पर दोनों को घेघा बुआ से अच्छा उम्मीदवार कोई नहीं मिलता था अतः दोनों ही गला फाड़ फाड़ कर उनके ही लिए वोट मांगती थीं।

उस दिन जब घेघा बुआ के धैर्य का बांध टूट गया और नई नई गालियों से विभूषित अपनी प्रथम एलेक्शन स्पीच देने ज्योंही चौतरे पर अवतरित हुईं कि उन्हें डाकिया आता हुआ दिखाई पड़ा। वह अचकचा कर रुक गईं। डाकिए के हाथ में एक पोस्टकार्ड था और वह गुलकी को ढूँढ़ रहा था। बुआ ने लपक कर पोस्टकार्ड लिया, एक साँस में पढ़ गईं। उनकी आँखें मारे अचरज के फैल गईं, और डाकिए को यह बताकर कि गुलकी सत्ती साबुन वाली के ओसारे में रहती है, वे झट से दौड़ी दौड़ी निरमल की माँ ड्राइवर की पत्नी के यहां गईं बड़ी देर तक दोनों में सलाह मशविरा होता रहा और अन्त में बुआ आईं और उन्होंने मेवा को भेजा—'जा गुलकी को बुलाय ला!'

पर जब मेवा लौटा तो उसके साथ गुलकी नहीं वरन सत्ती साबुन वाली थी और सदा की भांति इस समय भी उसकी कमर से वह काले बेंट का चाकू लटक रहा था, जिससे वह साबुन की टिक्की काटकर दूकानदारों को देती थी। उसने आते ही भौंह सिकोड़ कर बुआ को देखा और कड़े स्वर में बोली—"क्यों बुलाया है गुलकी को? तुम्हारा १०) किराया बाकी था, तुमने १५) का सौदा उजाड़ दिया! अब क्या काम है!" "अरे! राम! राम कैसा किराया बेटी! अन्दर आओ, अन्दर आओ!' बुआ के स्वर में असाधारण मुलायमियत थी। सत्ती के अन्दर जाते ही बुआ ने फटाक से किवाड़ बन्द कर लिये। बच्चों का कौतूहल बहुत बढ़ गया था। बुआ के चौके में एक झंझरी थी। सब बच्चे वहां पहुँचे और

आँख लगा कर कनपटियों पर दोनों हथेलियां रखकर घण्टी वाला बाइसकोप देखने की मुद्रा में खड़े हो गये।

अन्दर सत्ती गरज रही थी—"बुलाया है तो बुलाने दो। क्यों जाय गुलकी? अब बड़ा ख्याल आया है। इसलिए कि उसकी रखैल को बच्चा हुआ है तो जाके गुलकी झाड़ू बहारू करे, खाना बनाये, बच्चा खिलावै, और वह मरद का बच्चा गुलकी की आंख के आगे रखैल के साथ गुलछर्रे उड़ावै!"

निरमल की मां बोलीं—"अरे बिटिया। पर गुजर तो अपने आदमी के साथ करबो न! जब उसकी पत्नी आई है तो गुलकी को जाना चाहिए। और मरद तो मरद। एक रखैल छोड़ दुइ दुइ रखैल रख ले तो औरत उसे छोड़ देगी? राम! राम!"

"नहीं छोड़ नहीं देगी तो जाय के लात खायेगी?" सत्ती बोली।

"अरे बेटा!" बुआ बोली—"भगवान रहें न! तौन मथुरापुरी में कुब्जा दासी के लात मारिन तो ओकर कूबर सीधा हुइ गवा। पती तो भगवान है बिटिया! ओको जाय देव!"

"हाँ! हाँ बड़ी हितू न बनिये। उसके आदमी से आप लोग मुफ्त में गुलकी का मकान झटकना चाहती हैं। मैं सब समझती हूँ!"

निरमल का चेहरा जर्द पड़ गया। पर बुआ ने ऐसी कच्ची गोली नहीं खेली थी। वे डपट कर बोलीं "खबरदार जो कच्ची जबान निकाल्यो! तुम्हारा चलित्तर कौन ने जनता! ओही छोकरा मानिक......!"

'ज़बान खींच लूँगी!" सत्ती गला फाड़ कर चीखी, "जो आगे एक हरूफ़ कहा!" और उसका हाथ अपने चाकू पर गया—

"अरे! अरे! अरे!" बुआ सहम कर दस कदम पीछे हट गईं—"तो का खून करबो का, कतल करबो का?"—सत्ती जैसे आई थी वैसे ही चली गई।

तीसरे दिन बच्चों ने तय किया कि हीरो बाबू के कुँए पर चल कर बर्रें पकड़ी जायँ। उन दिनों उनका जहर शान्त रहता है, बच्चे उन्हें पकड़ कर उनका छोटा सा काला डंक निकाल लेते और फिर डोरी में बाँध कर उन्हें उड़ाते हुए घूमते। मेवा, निरमल और मुन्ना एक-एक बर्रें उड़ाते हुए जब गली में पहुँचे तो वहाँ देखा बुआ के चौतरे पर टीन की कुर्सी डाले कोई आदमी बैठा है। उसकी अजब शकल थी। कान पर बड़े-बड़े बाल, मिचमिची आँखें, मोछा और तेल से चुचुआते हुए बाल। कमीज और धोती पर पुराना बदरंग

बूट। मटकी हाथ फैलाए कह रही है—"एक डबल दै देव ! ए दै देव ना।"
मुन्ना को देख कर मटकी ताली बजा बजा कर कहने लगी—"गुलकी का मनसेधू आवा है। ए मुन्ना बाबू ! ई कुबड़ी का मनसेधू है।" फिर उधर मुड़ कर—"एक डबल दै देव।" तीनो बच्चे कौतूहल से रुक गये। इतने में निरमल की माँ एक गिलास में चाय भर कर लाईं और उसे देते देते निर्मल के हाथ में घरें देख कर उसे डाँटने लगी। घरें छुड़ा कर निरमल को पास बुलाया और बोली—"बेटा, ई हमारी निर्मला है। ए निरमल, जीजा जी हैं, हाथ जोड़ो ! बेटा, गुलकी हमरी जात बिरादरी की नहीं हैं तो का हुआ, हमारे लिए जैसे निरमल वैसे गुलकी। अरे निरमल के बाबू और गुलकी के बाप की दांत काटी रही। एक मकान बचा है उनकी चिन्हारी, और का !" एक गहरी साँस लेकर निरमल की माँ ने कहा।

"अरे तो का उन्हें कोई इन्कार है।" बुआ आ गई थीं "अरे १००) तुम दैवे किये रह्यू ; चलो ३००) और दै देव। अपने नाम कराय लेव !"

"५००) से कम नहीं होगा !" उस आदमी का मुँह खुला, एक वाक्य निकला और मुँह फिर बन्द हो गया।

"भवा ! भवा ! ऐ बेटा दामाद हौ, ५००) कहयो तो का निरमल की माँ को इन्कार है।"

अकस्मात वह आदमी उठ कर खड़ा हो गया। आगे आगे सत्ती चली आ रही थी, पीछे पीछे गुलकी। सत्ती चौतरे के नीचे खड़ी हो गई। बच्चे दूर हट गये। गुलकी ने सर उठा कर देखा और अचकचा कर सर पर पल्ला डाल कर माथे तक खींच लिया। सत्ती दो एक क्षण उसकी ओर एकटक देखती रही और फिर गरज कर बोली—"यही कसाई है। गुलकी आगे बढ़ कर मार दो चपोटा इसके मुंह पर ! खबरदार जो कोई बोला !" बुआ चट से देहरी के अन्दर हो गईं, निरमला की माँ की जैसे घिग्घी बँध गई और वह आदमी हड़बड़ा कर पीछे हटने लगा।

"बढ़ती क्यों नहीं गुलकी ! बड़ा आया वहाँ से बिदा कराने !"

गुलकी आगे बढ़ी—सब सन्न थे—सीढ़ी चढ़ी, उस आदमी के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगी। गुलकी चढ़ते-चढ़ते रुकी, सत्ती की ओर देखा, ठिठकी, अकस्मात लपकी और फिर उस आदमी के पाँव पर गिर के फफक फफककर रोने लगी—"हाय हमें काहे को छोड़ दियौ ! तुम्हरे सिवा हमरा लोक परलोक और कौन है। अरे हमरे मरै पर कौन चुल्लू भर पानी चढ़ाई..."

सत्ती का चेहरा स्याह पड़ गया। उसने बड़ी हिकारत से गुलकी की ओर

देखा और गुस्से में थूक निगलते हुए कहा "कुतिया !" और तेजी से चली गई। निरमल की माँ और बुआ गुलकी के सर पर हाथ फेर फेर कर कह रही थीं—"मत रो बिटिया ! मत रो ! सीता मइया भी तो बनवास भोगिन रहा। उठो गुलकी बेटा। धोती बदल लेव, कंघी चोटी करो। पति के सामने ऐसे आना असगुन होता है ! चलो !"

गुलकी आँसू पोछती पोंछती निरमल की माँ के घर चली। बच्चे पीछे पीछे चले तो बुआ ने डाँटा—"ऐ चलो एहर, हुँआ लड्डू बट रहा है का !"

दूसरे दिन निरमल के बाबू (ड्राइवर साहब) गुलकी और जीजा दिन भर कचहरी में रहे। शाम को लौटे तो निरमल की माँ ने पूछा—"पक्का कागज़ लिख गया ?" "हाँ हाँ रे, हाकिम के सामने लिख गया", फिर जरा निकट आकर फुसफुसा कर बोले—"मट्टी के मोल मकान मिला है। अब कल दोनों को बिदा करो !" "अरे, पहले १००) लाओ ! बुआ का हिस्सा भी तो देना है !" निरमल की माँ उदास स्वर में बोली, "बड़ी चण्ट है बुढ़िया-गाड़-गाड़ के रख रही है, मर के सांप होयगी।"

४

सुबह निरमल की माँ के यहाँ मकान खरीदने की कथा थी। शंख, घण्टा-घड़ियाली, केले का पत्ता, पंजीरी, पंचामृत का आयोजन देख कर सुन्ना के इलावा सब बच्चे इकट्ठे थे। निरमल की माँ और निरमल के बाबू पीढ़े पर बैठे थे; गुलकी एक पीली धोती पहने, माथे तक घूंघट काढ़े सुपारी काट रही थी और बच्चे झांक झांक कर देख रहे थे। मेवा ने पास पहुँच कर कहा—"ए गुलकी, ए गुलकी, जीजा जी के साथ जाओगी क्या ?" कुबड़ी ने झेंप कर कहा—"चत्त रे ! ठिठोली करता है !" और लज्जा भरी जो मुस्कान किसी भी तरुणी के चेहरे पर मनमोहक लाली बन कर फैल जाती, वह उसके झुर्रियोंदार, बेडौल, नीरस चेहरे पर विचित्र रूप से बीभत्स लगने लगी। उसके काले पपड़ीदार होंठ सिकुड़ गये, आँखों के कोने मिचमिचा उठे और अत्यन्त कुरुचिपूर्ण ढंग से उसने अपने पल्ले से सर ढांक लिया और पीठ सीधी कर जैसे कूबड़ छिपाने का प्रयास करने लगी। मेवा पास ही बैठ गया। कुबड़ी ने पहले इधर उधर देखा, फिर फुसफुसा कर मेवा से कहा—"क्यों रे ! जीजा जी कैसे लगे तुझे ?" मेवा ने असमंजस में या संकोच में पड़ कर कोई जवाब नहीं दिया तो जैसे अपने को समझाते हुए गुलकी बोली—"कुछ भी होय। है तो अपना

आदमी ! हारे-गाढ़े कोई और काम आवेगा ? औरत को दबाय के रखना ही चाहिए।" फिर थोड़ी देर चुप रह कर बोली—"मेवा भइया, सत्ती हमसे नाराज है। अपनी सगी बहन क्या करेगी जो सत्ती ने किया हमारे लिए। ये चाची और बुआ तो सब मतलब के साथी हैं, हम क्या जानते नहीं ? पर भइया अब जो कहो कि हम सत्ती के कहने से अपने मरद को छोड़ दें, सो नहीं हो सकता।" इतने में किसी का छोटा सा बच्चा घुटनों के बल चलते चलते मेवा के पास आकर बैठ गया। गुलकी क्षण भर उसे देखती रही फिर बोली—"पति से हमने अपराध किया तो भगवान ने बच्चा छिना लिया, अब भगवान हमें छमा कर देंगे।" फिर कुछ क्षण के लिये चुप हो गई—"छमा करेंगे तो दूसरी संतान देंगे। क्यों नहीं देंगे ? तुम्हारे जीजा जी को भगवान बनाये रक्खे। खोट तो हमी में है। फिर संतान होगी तब तो सौत का राज नहीं चलेगा !"

इतने में गुलकी ने देखा कि दरवाजे पर उसका आदमी खड़ा बुआ से कुछ बातें कर रहा है। गुलकी ने तुरंत पल्ले से सर ढँका और लजा कर उधर पीठ कर ली। बोली—'राम ! राम ! कितने दुबरा गये हैं। हमारे बिना खाने पीने का कौन ध्यान रखता। अरे सौत तो अपने मतलब की होगी। ले भइया मेवा; जा दो बीड़ा पान दे आ जीजा को !' फिर उसके मुँह पर वही लाज की वीभत्स मुद्रा आई—'तुझे कसम है, बताना मत किसने दिया है।'

मेवा पान लेकर गया पर वहाँ किसी ने उस पर ध्यान ही नहीं दिया। वह आदमी बुआ से कह रहा था—'इसे ले तो जा रहे हैं, पर इतना कहे देते हैं, आप भी समझा दें उसे—कि रहना हो तो दासी बन कर रहे। न दूध की, न पूत की। हमारे कौन काम की; पर हाँ औरतिया की सेवा करे, उसका बच्चा खिलावे, झाड़ू बुहारू करे तो दो रोटी खाय पड़ी रहे। पर कभी उससे ज़बान लड़ाई तो खैर नहीं। हमारा हाथ बड़ा ज़ालिम है। एक बार कूबड़ निकला, अगली बार परान ही निकलेगा।'

'क्यों नहीं बेटा ! क्यों नहीं !' बुआ बोलीं और उन्होंने मेवा के हाथ से पान लेकर अपने मुँह में दबा लिये !

करीब ३ बजे इक्का लाने के लिये निरमल की माँ ने मेवा को भेजा। कथा की भीड़भाड़ से उनका 'मूड़ पिराने' लगा था, अतः अकेली गुलकी सारी तैयारी कर रही थी। मटकी कोने में खड़ी थी। मिरवा और झबरी बाहर गुमसुम बैठे थे। निरमल की माँ ने बुआ को बुलवा कर पूछा कि बिदा-बिदाई में क्या करना होगा, तो बुआ मुँह बिगाड़ कर बोली "अरे कोई जात बिरादरी की है का ?

एक लोटा में पानी भरके इकन्नी दुअन्नी उतार के परजा-पंजारू को दै दियौ बस !" और फिर बुआ शाम की बियारी में लग गईं।

इक्का आते ही जैसे झबरी पागल सी इधर-उधर दौड़ने लगी। उसे जाने कैसे आभास हो गया कि गुलकी जा रही है, सदा के लिये। मेवा ने अपने छोटे-छोटे हाथों से बड़ी-बड़ी गठरियाँ रक्खीं, मटकी और मिरवा चुपचाप आकर इक्के के पास खड़े हो गये। सिर झुकाये पत्थर सी चुप गुलकी निकली। आगे आगे हाथ में पानी का भरा लोटा लिये निरमल थी। वह आदमी जाकर इक्के पर बैठ गया। 'अब जल्दी करो !' उसने भारी गले से कहा। गुलकी आगे बढ़ी, फिर रुकी और उसने टेंट से दो अधन्ने निकाले—'ले मिरवा, ले मटकी !' मटकी जो हमेशा हाथ फैलाये रहती थी, इस समय जाने कैसा संकोच उसे आ गया कि वह हाथ नीचे कर दीवार से सटकर खड़ी हो गई और सर हिला कर बोली—'नहीं !'—'नहीं बेटा ! ले लो !' गुलकी ने पुचकार कर कहा। मिरवा मटकी ने पैसे ले लिये और मि वा बोला—'छलाम गुलकी ! ए आदमी छलाम !'

'अब क्या गाड़ी छोड़नी है !' वह फिर भारी गले से बोला।

'ठहरो बेटा, कहीं ऐसे दमाद की बिदाई होती है !' सहसा एक बिल्कुल अजनबी किन्तु अत्यन्त मोटा स्वर सुनाई पड़ा। बच्चों ने अचरज से देखा, मुन्ना की माँ चली आ रही हैं। "हम तो मुन्ना का आसरा देख रहे थे कि स्कूल से आ जाय, उसे नाश्ता करा लें तो आयें, पर इक्का आ गया तो हमने समझा अब तू चली। अरे ! निरमल की माँ कहीं ऐसे बेटी की बिदा होती है। लाओ ज़रा रोली घोलो जल्दी से, चावल लाओ, और सेन्दुर भी ले आना निरमल बेटा ! तुम बेटा उतर आओ इक्के से !"

निरमल की माँ का चेहरा स्याह पड़ गया था। बोलीं—"जितना हमसे बन पड़ा किया। किसी को दौलत का घमण्ड थोड़े ही दिखाना था !" "नहीं बहन ! तुमने तो किया पर मुहल्ले की बिटिया तो सारे मुहल्ले की बिटिया होती है। हमारा भी तो फर्ज था। अरे माँ बाप नहीं हैं तो मुहल्ला तो है। आओ बेटा !" और उन्होंने टीका करके आँचल के नीचे छिपाये हुए कुछ कपड़े और एक नारियल उसकी गोद में डाल कर उसे चिपका लिया। गुलकी जो अभी तक पत्थर सी चुप थी सहसा फूट पड़ी। उसे पहली बार लगा जैसे वह मायके से जा रही है। मायके से...अपनी माँ को छोड़कर... छोटे-छोटे भाई बहिनों को छोड़कर... ...और वह अपने कर्कश फटे हुए गले से विचित्र स्वर से रो पड़ी।

"ले ! अब चुप हो जा ! तेरा भाई भी आ गया।" वे बोलीं। मुन्ना बस्ता लटकाये स्कूल से चला आ रहा था। कुबड़ी को अपनी माँ के कन्धे पर सर रख कर रोते देखकर वह बिल्कुल हतप्रभ सा खड़ा हो गया—"आओ बेटा ! गुलकी जा रही है न आज ! दीदी है न ! बड़ी बहन है। चल पाँव छू ले ! आ इधर !' माँ ने फिर कहा।" मुन्ना...और कुबड़ी के पाँव छुए? क्यों?क्यों? पर माँ की बात ! एक क्षण में उसके मन में जैसे एक पूरा पहिया घूम गया और वह गुलकी की ओर बढ़ा। गुलकी ने दौड़कर उसे चिपका लिया और फूट पड़ी—'हाय मेरे भइया ! अब हम जा रहे हैं ! अब किससे लड़ोगे मुन्ना भइया ? अरे मेरे बीरन, अब किससे लड़ोगे ?' मुन्ना को लगा जैसे उसकी छोटी-छोटी पसलियों में एक बहुत बड़ा सा आँसू जमा हो गया जो अब छलकने ही वाला है। इतने में उस आदमी ने फिर आवाज़ दी और गुलकी कराह कर मुन्ना की माँ का सहारा लेकर इक्के पर बैठ गई। इक्का खड़-खड़ कर चल पड़ा। मुन्ना की माँ मुड़ी कि बुआ ने व्यंग किया—"एक आध गाना भी बिदाई का गाये जाओ बहन ! गुलकी बन्नो ससुराल जा रही है !" मुन्ना की माँ ने कुछ जवाब नहीं दिया, मुन्ना से बोलीं—"जल्दी घर आना बेटा। नाश्ता रक्खा है !"

पर पागल मिरवा ने, जो बम्बे पर पाँव लटकाये बैठा था, जाने क्या सोचा कि वह सचमुच गला फाड़कर गाने लगा—'बन्नो डाले दुपट्टे का पल्ला, मुहल्ले से चली गई राम !' यह उस मुहल्ले में हर लड़की की बिदा पर गाया जाता था। बुआ ने घुड़का, तब भी वह चुप नहीं हुआ, उल्टे मटकी बोली—'काहे न गावैं, गुलकी ने पैसा दिया है !' और उसने भी सुर मिलाया—'बन्नो तली गई लाम ! बन्नो तली गई लाम ! बन्नो तली गई लाम !'

मुन्ना चुपचाप खड़ा रहा। मटकी डरते-डरते आई—"मुन्ना बाबू ! कुबड़ी ने अधन्ना दिया है, ले लें ?"

"ले ले !" बड़ी मुश्किल से मुन्ना ने कहा और उसकी आँख में दो बड़े-बड़े आँसू डबडबा आये। उन्हीं आँसुओं की झिलमिली में कोशिश करके मुन्ना ने जाते हुए इक्के की ओर देखा। गुलकी आंसू पोंछते हुए पर्दा उठाकर सबको मुड़-मुड़ कर देख रही थी। मोड़ पर एक धचके से इक्का मुड़ा और फिर अदृश्य हो गया।

सिर्फ़ झबरी सड़क तक इक्के के साथ गई और फिर लौट आई।

फलित ज्योतिष और वाहन-योग

केशवचन्द्र वर्मा

बचपन के शौक़ का नतीजा अच्छा या बुरा हरेक को भोगना पड़ता है ! मैं भी उसकी लपेट में आ गया । सो उसका बुरा नहीं मानता । बचपन से ही मुझे दो शौक़ थे—एक था हाथ दिखाने का शौक़ और दूसरा ढूँढ़ ढाँढ़ कर रद्दी से रद्दी पत्रिका में निकले हुए राशिफल को पढ़कर अपनी किस्मत आज़माने का शौक़ ! नतीजा यह हुआ कि मेरे भविष्य-द्रष्टा ने अत्यंत कृपा करके यह बताया कि 'राजदरबार में मेरा सम्मान होगा' 'परिवार बढ़ेगा' 'पैसा आएगा लेकिन चला जायगा' और घर में सवारी रहेगी क्योंकि मेरे हाथ में 'वाहन-योग' स्पष्ट है ।

'विद्यालाभ' के बारे में मेरे भविष्यद्रष्टा सिर्फ़ मुस्करा कर रह जाते थे । उनकी वह मुस्कान इस रूप में प्रतिफलित हुई कि मेरा विद्यार्जन हाई स्कूल तक दौड़कर चला गया, इंटर-मीडियेट लँगड़ाते पार हुआ, बी० ए० तो बिल्कुल सत्याग्रहियों की तरह धरना देकर और फिर उसके बाद तो उसने चलने से बिल्कुल ही इन्कार कर दिया ।

अब सवाल था 'राजदरबार में सम्मान' का । कई जगह अर्ज़ियाँ दीं लेकिन हर जगह दरबार में पता चला कि दरबारवाले हमारा सम्मान करने के लिये खाली नहीं हैं । आखिर एक बाँध के सरकारी दफ्तर में, जो नया-नया खुला था, किसी तरह एक क्लर्क की जगह मिली । नब्बे रुपये माहवार कुल मिला-जुलाकर आमदनी बनी, जो पहिली को मिलती और दूसरी को खुक्ख हो जाती । यानी 'राजदरबार में सम्मान भी मिला' और यह भी सच हुआ कि 'पैसा आएगा लेकिन चला जायगा । तनख्वाह से बनी हुई अपनी औक़ात का ध्यान करके यह चाहा कि 'परिवार बढ़ेगा' वाली भविष्यवाणी गलत निकल जाय । लेकिन परिवार बढ़ा और धूम से बढ़ा । एक का हाथ पकड़, एक को गोद में, तीसरे को श्रीमती जी की गोद में टँगा हुआ लेकर जब मैं सहसा किसी दिन बड़ी हिम्मत के साथ सिनेमाघर की खिड़की पर पहुँचता तो बढ़े हुए परिवार का एहसास उस तरह होता जैसे बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञानालोक !! जब सब कुछ हो गया तो मैंने अपनी 'वाहनयोग' वाली रेखाओं को ज़रा ध्यान से देखना प्रारंभ किया ।

आख़िर उसका भी नम्बर आ गया ।

'पैसा आएगा लेकिन चला जायगा' वाली भविष्यवाणी फूलते देखकर मेरा विश्वास पैदली यात्रा में जमता जा रहा था और मन ही मन मैं यह जान गया था कि भविष्यद्रष्टा की इस अमरवाणी के फलते 'वाहनयोग' तो सुलभ होने वाला नहीं है ! मगर हाय री भविष्यवाणी ! जब अक्सर घर का खाना छुटने लगा, दफ्तर में लेट होने पर हाज़िरी का रजिस्टर बड़े साहब के कमरे में पहुँचने लगा, और तीन चार बार बराबर पेट दर्द, वाइफ़ की बीमारी और कुछ भी बहाना न पाकर 'हीं हीं हीं हीं' कर चुका तो फिर ज़रा घबराहट का सिलसिला शुरू हुआ । सोचा कि अगर अब भी 'वाहनयोग' को सिद्ध न किया तो तत्काल 'राजसभा में अपमान', 'सम्पत्तिक्षय', 'परिवार में मानसिक क्लेश एवं अशांति', 'पाँवों में शनिश्चर एवं अकारण यात्रा' और 'अकाल मृत्यु' आदि सभी अघटित घटनाएँ घटने लगेंगी ।

वाहन का जहाँ तक सवाल है, साइकिल जैसा अन्तर्राष्ट्रीय वाहन, ज़रा मुश्किल से ही इस गतिशील युग में मिलेगा । खेत खलियान की मेड़ों से लेकर, डामर की पथरीली सीमेंटी सड़कों पर समान रूप से गतिमान दूसरा और कौन सा वाहन है ? चाहिये तो इसी साइकिल पर दुनियाँ की सैर—'विश्वभ्रमण'—कर लीजिये, बशर्ते आप को दुनियाँ में और कोई काम-धन्धा न हो ! इस साइ-किली-विश्व-भ्रमण से कई लाभ हैं । एक तो यह कि चलते फिरते सभी देशों के प्रधान मंत्रियों के साथ खड़े होकर फ़ोटो खिंचवाने का अवसर सुलभ होता है और दूसरा यह कि अगर आप पूरा चक्कर खा ही गए तो साइकिल कम्पनी आपको मुफ़्त साइकिल दे देने को तैयार हो जायगी । मन में पहिले वही इरादे आते हैं जिनका पूरा होना मुश्किल रहता है ! उसी तरह यह भी इरादा आया कि साइकिल पर 'विश्व-भ्रमण' करके प्रधान मंत्रियों की निगाह में चढ़ जाऊँ और लगे हाथ साइकिल भी फ्री पा जाऊँ । सोचा विचारा भी काफ़ी । मगर फिर परि-वार प्रेम उमगने लगा, तिरिया ने रोय धोय बाँह गही, कलप कलप मरने की बात कही और सच कहूँ तो अपनी भी हिम्मत ने साफ़ जवाब दे दिया ! ऐसी उजबक योजना में मन रमता तो मैं काहे को 'मैं' रह जाता ! मुफ़्त साइकिल पाने और क़िस्मत सुधारने की योजना तो यूँ कट गई !

भड़काने में आकर जब आदमी भगवान को गाली दे बैठता है तो अगर मैंने नई साइकिल का दाम पूछ लिया तो क्या बुरा किया ? 'डेढ़ सौ से तीन सौ तक !' होश फाख्ता होकर कार्निस पर जा बैठे । काहे को नौ मन तेल होगा

और काहे को राधा उठकर नाचेंगी ?

मुसीबत के वक्त काम आने वाला आदमी ही दोस्त कहला सकता है ! सो मेरे एक दोस्त कहलाने वाले सज्जन (?) इस मुसीबत के वक्त काम आए। वह अपनी पुरानी साइकिल बेचना चाहते थे। मुझे ज़रूरत है, यह जान कर वे मुझे बतलाने आए कि ऐसा सुनहरा मौका मैं किसी तरह अपने हाथ से न जाने दूँ ! सत्तर रुपये में भी वह दे देने के लिये तैयार थे। मैंने अपनी पास बुक का ध्यान किया जिसका सुहाग लुटने ही वाला था !

आखिर पासबुक उनकी हो गई। साइकिल मेरी हो गई !!

पहिले ही दिन पता चला कि हवा कम है ! हवा भर कर चढ़ना चाहिये नहीं तो ट्यूब कट जायगा और टायर फट जायगा, ऐसा पास पड़ोस वालों ने बताया था। हवा भरने वाले कल्लू मिस्त्री की दूकान पास ही थी। तजुरबेकार आँखों से कल्लू मिस्त्री ने साइकिल देखते ही कहा —

'बाबू जी ! इसमें तो बर्स्ट है !'

'अच्छा तो क्या हुआ ? बर्स्ट है तो क्या है ? खोलो, बनाओ ! जरा जल्दी करो।'

उसने साइकिल खोली। पूरा ट्यूब जो निकला तो मेरा जी धक्क से रह गया। रबड़ पर काले रंग के इतने चिप्पख लगे हुए थे कि उसका असली रंग मिस्त्री भी आसानी से नहीं बता सकता था। हवा भर कर पानी के तसले में बुलबुले उड़ाते हुए जो उसने चिप्पख उखाड़ने शुरू किये तो एक उखाड़ा, दो उखाड़े, तीन उखाड़े और तब तक मैं अपना धैर्य खो बैठा—

'आखिर ट्यूब में कुछ पुराना भी रहने दोगे या उसे एकदम सत्यानास ही कर डालोगे ?'

मिस्त्री ने हाथ खींच लिया...

'ले जाइए बाबूजी, ऐसे ही ले जाइए। मुझे क्या करना है ?' दूसरी साइकिल को अपनी तरफ खींचते हुए उसने कहा।

देखा, मिस्त्री ऐसे हाथ आने वाला नहीं है। जिस तरह सहालग के दिनों में कुम्हार, दर्जी, चूड़ेवाले, बाजेवाले नहीं खाली रहते हैं, उसी तरह गरमी के दिनों में पंक्चर बनानेवाले मिस्त्री भी खाली नहीं रहते। फिर भला जब वह मुझसे धमकाने वाली टोन में बात कर रहा था, तो मैं कर ही क्या सकता था। बिना दोस्ती के काम नहीं करेगा, सोचते हुए एक बीड़ीनुमा सिग्रेट उसकी तरफ बढ़ाकर बोला—

'अरे भइया ! ठीक कर दो साइकिल ! बुरा क्यों मानते हो ? ज्यादा पंक्चर बनाने बैठ गए तो मेरा दफ्तर सफ्तर सब धरा रह जायगा, इसी से कहा था कि कामचलाऊ बना दो बस !!'

मिस्त्री ने समझाया कि गरमी में पुरानी साइकिलें परेशान करती ही हैं। विशेषज्ञ होने के नाते उसने सुझाव दिया कि साइकिल ठंडक में रखनी चाहिये ताकि हवा न निकले ! मैं चकरा उठा कि साइकिल को कहीं 'रिफ्रीजरेटर' में रखना पड़ा तो पारिवारिक क्लेश, सम्पत्ति क्षय, आदि ग्रह फिर जाग्रत हो जायँगे। तब तक उसने बताया कि कहीं छाँह वाली जगह में साइकिल रक्खी जा सकती है। चढ़ने की नौबत न आई और साइकिल के रख रखाव पर ज्यादा ज़ोर देना शुरू हो गया।

घर भर में ठंडक वाला कमरा एक ही था जिसके सहारे घर वाले अपनी दोपहरी काटा करते थे ! सुबह शाम वही कमरा बैठक का काम देता था और दिन दुपहर में वही आतपशरण-स्थली था। इस कमरे के तख्त, अल्मारी, और दूसरे सामान हटा कर ऊपर पहुँचाए गए। नीचे के छोटे से कमरे में सिर्फ़ साइकिल ही रह सकती थी, इसलिये घर की बैठक ऊपर के कमरे में कर दी। साइकिल ठंडक में रहने लगी। मगर फिर भी वह हवा निकालने के बारे में काफी उदार बनी रही।

हवा भर भर कर साइकिल धीरे धीरे चली और चलने लगी। उसकी संगीत-माधुरी से मेरे [illegible] कि रेडियो संगीत मुझे फीका लगता था। उसका बनाव [illegible] सादा जीवन और उच्च विचार रखने के लिये बाध्य करता था। उसकी गति ऐसी कि बिहारी का 'कुंजर कुंज समीर' भी उसकी चाल की नकल न कर पाता ! उसकी [illegible] ऐसी कि जो सम्पर्क स्थापित करते ही अपने ही रंग में दूसरों को—यानी मेरे कपड़ों को रँगने की चेष्टा करती ! प्रजातांत्रिक युग की प्रतिनिधि होने के कारण उसके ब्रेक पर भी अधिक नियंत्रण न हो पाया। [illegible]

मगर [illegible] जवाब देने पर तुली थी और [illegible] था। मिस्त्री कल्लू की दोस्ती [illegible] है। वह कभी अपने [illegible] को गालियाँ देता, कभी साइकिल के [illegible]

हल्दी दूब और दधि अच्छत

विद्यानिवास मिश्र

मेरे घर की संस्कृति के मांगलिक उपादान मूर्त रूप में हल्दी-दूब और दधि अच्छत ही हैं, इसलिए शहर में एक लम्बे अरसे तक बसने के बाद भी मन इन मंगल द्रव्यों की शोभा के लिए ललक उठता है। बहुत दिनों से कोई अर्चन पूजा नहीं की है, जिसको अर्चन का अधिकार सौंप दिया है उससे भी कोसों और महीनों का व्यवधान है। बसन्त की उदास बयार की ललक एक अजीब सा अनमनापन भर रही है, वर्षान्त के कार्य का बोझ सिर पर लदा हुआ है, जिसे लोग उल्लास कहते हैं वह जैसे पथरा गया है, पर क्या बात है कि हल्दी से रंगी हथेली, दूब से पुलकित पूजा की थाली, अक्षत से भरा चौक और दधि से शोभित भाल, ये चित्र मन में उभर आते हैं। हृदय का वह प्रथम अनुराग बासी पड़ गया, उस नव प्रणय की भाषा जूठी हो गयी, उसके अन्तर का वह रस सीठ गया, उस रस का वह आपूरित आनन्द रीत गया, जिन नव दृग-पल्लवों की बन्दनवार लगी, वे दृग-पल्लव मुरझा गये, 'नयन सलोने अधरमधु' दोनों ही कड़वा गये, पर क्या जादू है कि मन की कोर में लगी हल्दी नहीं छूटी, जीवन प्रान्तर में उगी हुई दूब नहीं गई, आनन्द अधर पर लगी दही की चिकनाई नहीं रूखी हुई और परिस में बिछी हुई अच्छतराशि म्लान-विलुप्त नहीं हुई!

यह जानता हूँ भी कि गांव की उस मांगलिक कल्पना में शहरी जीवन का कोई मेल नहीं हो सकता, मेरा अनागर मन उस कल्पना का पल्ला नहीं छोड़ना चाहता। किसी ने प्रतिगामी कहा और किसी ने [illegible] या कोकोकोला सभ्यता में अप्रगतिशील मानव—[illegible] शब्दों का प्रयोग करें—अप्रगतिशील कहा, पर मन [illegible] ही बना रहा, उसकी काली कमली पर दूसरा रंग न चढ़ा, उसकी पुरानी बांसुरी में दूसरी टेर नहीं आयी, उसके गीतों में दूसरे बोल नहीं आये। उसकी [illegible]

अपने शुभ के लिए अब भी हल्दी का वरदान माँगती रही, उसकी प्रत्येक नयी यात्रा दही का सगुन चाहती रही, उसकी प्रत्येक नयी साधना दूर्वा का अभिषेक माँगती रही, और उसकी प्रत्येक नयी अपूर्ति अक्षत से पूर्णता की आशीष चाहती रही ।

मैं अवश हूँ । फीरोज़ी, सुरमई, मूँगिया और चम्पई इन रंगों से घिरा होकर भी नवांकुरित दूब की हरित-पीत आभा की ओर मेरा मन दौड़ ही जाता है और धरती, माटी, मानव और आस्था, ईमान, सत्य, चेतना और युगमानस इन सभी उपासनामंत्रों के कोलाहल में भी 'हरद दूब दधि अच्छत मूला' गीतियों की स्फूर्ति के पीछे वह भटक जाता है । चारों ओर से लोग मुझसे प्रश्न पर प्रश्न करते हैं कि तुम अपनी प्रतिभा क्यों बिखरा रहे हो, क्यों नहीं हमारे पंक्ति-बन्धन में आकर उसको एक दिशा में आगे बढ़ाते, युगपथ छोड़कर किन पिच्छिल पग-वीथियों पर विभ्रान्त हो ? मैं किस किस को और क्या जवाब दूँ । उन्हें कैसे समझाऊँ कि मेरे पुरातन संस्कार ही मेरे अस्तित्व हैं, मैं इनको छोड़कर कुछ नहीं । इस अनन्त शून्य में तिरते हुए ये तिनके मिले हैं, उन्हें छोड़कर चलने पर मेरा आसरा टूट जायेगा । उन्हें कैसे दिखलाऊँ कि तुम्हारी योजना, तुम्हारा यश, तुम्हारी क्रान्ति, तुम्हारा नाद, तुम्हारी आस्था और तुम्हारा ईमान, मुझे ही नहीं मेरे जैसे हल्दी, दूब और दधि अक्षत से अपने मन की मनौती पूरी करने वाले असंख्य गँवार आदमियों को भी छू नहीं पाते । तुम लोकगीत के नारे अपनाते हो, तुम नागाओं की शैली अपनाते हो, पर तुम लोक का [illegible] नहीं करपाते । तुमसे क्या अपने घर की बात कहूँ, तुम समझ नहीं पाओगे । भाई, तुमने तो केवल [illegible] ही देखे हैं, तुम शरीर तक नहीं देख पाये, आत्मा तो बहुत दूर की चीज है । एक भी धूलिकण न सह सकने वाले तुम्हारे ये [illegible] शीशों से निकलने वाले नलिन नयनों को कैसे दिखला सकूँगा । पत्थर के [illegible] कर तुम अपने आस पास सौ दो सौ [illegible] भी देख सको तो आओ मेरे साथ, मैं तुम्हें दिखलाऊँ कि बिना किसी अभियान, आन्दोलन या क्रान्ति के उस [illegible] पल्ली-समाज में एक [illegible] है, उसमें लपट नहीं, ज्वाला नहीं, दीप्ति नहीं, पर एक ऐसा ताप है जो तुम्हारे अहंकार के कठोर से कठोर पाषाण को पिघला देगा, जो तुम्हारे [illegible] की [illegible] को संवार देगा, जो तुम्हारी बुद्धि के अजीर्ण को पचा देगा, और जो तुम्हारी बुझी हुई ज्योति को जगा देगा । वह आग हल्दी तथा दूब [illegible] और दधि-अक्षत [illegible] सिद्धि की साक्षी है, जिसमें सादी के

'चऊरा' और 'लहालरि दूब' से भरी अंजलि 'लाख बरिस' की आयुष्य-वृद्धि करती है। वह आग उस बन्धन की साक्षी है, जो वन के एकान्त की माँग नहीं करता, जो गृह के संकुल में अपनी एकाग्रता सुरक्षित रख सकता है, वह आग जीवन के उस दर्शन की साक्षी है जो विचल होना जानता नहीं, वह आग उस सिन्दूर-दान की साक्षी है, जिसमें सिंदूर भरने वाला अपने प्राणों का आलोक किसी की माँग में भर देता है।

मैं आज भी उस आग की आँच अपनी असीम जड़ता के अन्तरतम में अनुभव करता हूँ। मेरे मन में वह याद अब भी ताज़ी है, जब मैं दूर्वाक्षतों से सौ बार चूमा गया था, तीस पैंतीस कुल-कन्याओं की सेना मस्तक से लेकर जानु तक अपनी उँगलियों से दूब अक्षत लेकर वय, शक्ति और उमंग के अनुरूप बल लगा-लगा कर एक के बाद एक दबाती जा रही थी, इसी व्यापार को 'चूमने' की संज्ञा देकर गीत उच्चरित हो रहे थे। मैं इस 'चूमने' से खीझता जा रहा था, ऊपर से थोड़ा बहुत शहरी संस्कारों के प्रभाववश पानी-पानी हो रहा था, पर भीतर ही भीतर मुझे ऐसा लग रहा था कि जैसे दूब अच्छत के संयोग के द्वारा अक्षय हरियाली की शुभ-कामना मेरे अंग अंग को अभिमन्त्रित कर रही हो। उस 'चूमने' में अधर नहीं मिले, पर जाने कितने बाल, किशोर, तरुण और प्रौढ़ हृदयों की अपने-अपने ढंग से मंगल-चेतना का संस्पर्श अवश्य मिला, उस 'चूमने' से मादकता नहीं आयी, पर जाने विश्व भर के सहयोग का एक ऐसा आश्वासन मिल गया कि मन में मीठी सी सिहरन पैदा हुई और उस चूमने से शोले नहीं भड़के, नसें नहीं पिघलीं और प्यास नहीं बढ़ी, बल्कि एक ऐसी शीतलता, जड़िमा और परितृप्ति आयी कि लगा व्यक्ति का प्राण्य समष्टि की स्नेहच्छाया के लिये युगों से तरसता आया हो और अब पाकर परितुष्ट हो गया हो। आषाढ़ चढ़ते ही मंजरियों में झूम उठनेवाले साठी के वे लहराते खेत बरसों से देखने को नहीं मिलते, पर उनके हल्दी रँगे चावलों का एक अंजलि से दूसरी अंजलि में [illegible] और [illegible] की [illegible] करने [illegible] सुकुमार भावनाओं के अर्पण-समर्पण की स्मृति आज भी हरी है।

साठी के धान बैशाख-जेठ में रोपे जाते हैं और [illegible] से वे जीवन-रस ग्रहण करते हैं। दूब भी पशुओं के खुर से कुचली जाती है, लाठी से छीली जाती है, कुदाली से खोदी जाती है, हल की नोक से रगड़ी जाती है, अहिंस्र कहे जाने वाले पशुओं से निर्ममता से चर ली जाती है और आदमी में सबसे ऊसर बुद्धि रखने वाले [illegible] में [illegible] जाती है, पर यह प्रत्येक

जीवन-यात्री को वर्षा में फिसलने से बचाने के लिए पाँवड़े बिछाती है, वह दो खेतों की परस्पर छीना-छोरी की नाशिनी स्पर्धा को रोकने के लिए शान्ति-रेखा बन जाती है । जरा सा भी मौका मिल जाय तो फैलकर मखमली फर्श बन जाती है, पनघट के मंगल गीतों का उच्छ्वास पाकर वह मरकत की राशि बन जाती है, शरद् का प्रसन्न आकाश जब रीझ कर मोती बरसाता है, तब वह धरती की छिलमयी आंचर बन जाती है और जब ग्रीष्म का कुपित रवि आग बरसाता है, तब वह धरती के धीरज की छांह बन जाती है । उस दूब को यदि नारी पूजा की थाली में सजाती है तो उन समस्त अत्याचारों का क्षण भर के लिए उपशम हो जाता है, जिन्हें दूब प्रतिक्षण सहती रहती है ।

भारतीय संस्कृति का मूल आधार है तितिक्षा, जिसकी सही अर्थ में मूर्त व्यंजना ही दूर्वा है । दूर्वा चढ़ाने का जो वैदिक मन्त्र है, वह भी इसी सत्य को दुहराता है, 'काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती, परुषः परुषस्परि । एवानो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन ।' तितिक्षा ही के कारण उस संस्कृति की एक शाखा उच्छिन्न होते ही दूसरी शाखा निकल आयी है । जितने ही उस पर मार्मिक आघात हुए हैं, उतने ही शत-सहस्र उमंगों के साथ वह पनपी है । इसी के कारण उसे अप्रतिहत मांगलिक स्वरूप प्राप्त हुआ है । और इसी के कारण वह भारत की धरती से इतनी हिलगी बन गयी है कि बिना उसके उसका कोई मांगलिक क्रियाकलाप नहीं सम्पन्न होगा ।

दूर्वा की नोक से जब हल्दी छिड़की जाती है तो ऐसा लगता है कि तितिक्षा के [illegible] से साक्षात् सौभाग्य छिड़का जा रहा हो । हल्दी दूब का यह संयोग मन को सिद्धि और आनन्द का मंगलमय परिणाम देता है । नहीं तो अपने में सत्व निरानन्द और अशिव है । उसको अपना गौरव सिद्धि और आनन्द के सुखद संयोग में ही प्राप्त होता है । शायद इसीलिए वह गणेश के प्रतीक में हल्दी और दूब के योग का [illegible] बन गया है ।

हल्दी जब तक नहीं लगती, तब तक [illegible] अपरिचित ही बना रहता है, हल्दी जब तक नहीं लगती, तब तक कौमार्य अपरिणीत ही रहता है । हल्दी जब तक नहीं चढ़ती, तब तक [illegible] अधूरी ही रहती है । इसलिए, जब [illegible] को पहला [illegible] खेत में जाने लगता है तो हल, बैल और हलवाहा तीनों ही हल्दी से टीके जाते हैं । जब पहला बीज धरती में पड़ने जाता है तो [illegible], [illegible], बीज और कुदाली चारों हल्दी से छिड़के जाते हैं, जब [illegible] की सफलता में सारी [illegible] की होती है तो उसके [illegible] में आयी हुई हल्दी [illegible]

पियरी और हल्दीरंगी अंगुली ही उसको तथा उसके लाल को कुल के समक्ष प्रस्तुत करती हैं, जब कुमारी सुहागिन बनने को होती है तो उसके अंग-अंग को हल्दी असीस देती है और नख-शिख हल्दी से रंग कर ही सौंदर्य सौभाग्य का सिन्दूरदान पाता है। जिसको हल्दी नहीं लगती, वह धरती परती पड़ जाती है, जिसको हल्दी नहीं चढ़ती वह कन्या आकांक्षा की अछोर डोर बन जाती है, जिस पर हल्दी नहीं खिलती, वह सौन्दर्य का अभिशाप बन जाती है, क्योंकि हल्दी के ही गर्भ में धरती का सच्चा अनुराग-तत्व छिपा रहता है, हल्दी की ही गाँठ में स्नेह का अशेष हृदय से आमन्त्रण बँधा रहता है, हल्दी में ही रंगकर श्याम दूर्वाभिराम हो जाते हैं और हल्दी के छूने ही से मंगल की प्राण-प्रतिष्ठा हो जाती है। इसी से यद्यपि उस के लिए वेद ने आग्रह नहीं किया, पर लोक के अन्तर का आग्रह था, वह हल्दी मंगल-विधि अपरिहार्य बन गयी, उस हल्दी को संस्कृत वालों ने इसी से 'वर्णिक' संज्ञा दी, मानों 'वर्ण' की सार्थकता हल्दी में ही अर्पित हो गयी हो, दूसरे वर्ण इसके आगे अपार्थ हो गये हों। हल्दी वस्तुतः उस लोक हृदय की सुरक्षित थाती है, जिसने नये-नये देव और मन्त्र तो स्वीकार किये, पर जिसकी उपासना के उपादान वैसे ही संजोये रहे और जिसकी आस्था के रंग वैसे ही चटकीले बने रहे।

हल्दी-दूब इस देश की संस्कृति को रूप और स्पर्श देते रहे हैं, कमल गन्ध देता रहा है, पर दधि अक्षत, रस तथा शब्द देते रहे हैं। जिस प्रकार शब्द से आकाश भर जाता है उसी प्रकार से अक्षत से अर्चन की थाली भर जाती है। जिस देश के बाहर भीतर सभी आकाशों में युगों से अक्षत ब्रह्म का नाद आपूरित होता रहा हो, उस देश की जनकल्याणी अन्तरात्मा को आसन देने के लिए इसी से अक्षत से बढ़ कर कोई सामग्री उपयुक्त नहीं समझी गयी और वह [illegible] बहुजन में [illegible] होता रहे।

दही उस संस्कृति की कपिला वाणी की साक्षात् रसमयी प्रतिमा है, दूध [illegible] होता रहे, माखन से मन की एकता भी और [illegible] रहे, पर [illegible] आती है और इसीलिये [illegible] नीरस [illegible] है। [illegible] के लिये इस देश के [illegible] पसारते रहे हों, [illegible] के लिये [illegible] रहा हो, वह [illegible] अपने [illegible] इस [illegible]

सांस्कृतिक विवर्तशीलता तथा अन्तर्ग्रहणशीलता का प्रतिमान है। दूध में खटाई पड़ते ही वह फट जाता है, दूध में नमक की एक छोटी सी डली भी पड़े तो वह विषतुल्य हो जाता है। पर दही खटाई, मिठाई, लुनाई सभी स्वादों से समरस होनेवाली एक विलक्षण आस्वादना है। उसमें दूध के उफान या घी के पिघले-पन से अधिक धीमी आँच में तपने के कारण एक स्थिररूपता है। ठीक यही बात उस दही से अभिव्यंजमान संस्कृति के बारे में भी कही जा सकती है; सभी रसों से मेल रखती हुई भी अपने रस में सबको समाविष्ट करती हुई और क्षणिक उत्ताप या द्रवण से अप्रभावित रहकर साम्य निदर्शन करती हुई वह सच्चे अर्थ में दधि से अधिक उत्कृष्ट बन गयी है। उसकी ऐसी महिमा है कि उसके छाछ के लिये तो इन्द्र तक तो तरसते ही हैं, स्वयं सच्चिदानन्द तक को अहीर की छोहरियाँ तक छछिया भर नाच नचा देती हैं। उसके मन्थन से केवल अमृतमय नवनीत निकलता है।

सौभाग्य, तितिक्षा, स्नेह तथा परिपूर्णता के लिये आग्रह रूप में उस संस्कृति की पूजा की थाली हल्दी-दूब और दधि अक्षत से सजायी जाती रही है और सजायी जाती रहेगी, पर इस पूजा का मर्म उसी को खुलेगा, जो लोक-जीवन की मंगल भावना में अपने को तन्मय कर सकेगा और यह तन्मयता [illegible] या शौकिया [illegible] बनने से नहीं आयेगी, उसे पाने के लिये मन से गँवार बनना होगा, अपने संस्कारों को एकदम ही [illegible] होगा। [illegible] उसके, हल्दी दूब और दधि अक्षत [illegible] नहीं। ये सभी सांस्कृतिक अभिव्यञ्जन हैं, अभिधान नहीं। अभिधान को अपने मन में हम [illegible] मानते हैं और अभिव्यञ्जन के लिये सहृदयता की अपेक्षा पड़ती है, बिना उसके उसका अर्थ रस बन कर आस्वाद्य नहीं होता। आज संस्कृति का अभिधान तो है, जो न होता तो अच्छा होता, पर उसका अभिव्यञ्जन नहीं है, उस अभिव्यञ्जन को न पाकर ही साहित्य रिक्त है, सांस्कृतिक जीवन भी [illegible] होते हुये भी खोखला है। आज जीवन में उस अभिव्यञ्जन को पाने की लालसा इसीलिये सबसे अधिक है और इसी से हल्दी-दूब और दधि अक्षत का मान अधिक दिनों तक उपेक्षित नहीं रह सकेगा।
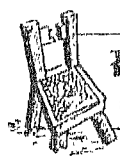
लक्ष्मीकान्त वर्मा

१

'इस दुनियाँ में हर चीज़ नीलाम हो सकती है !' जिस लेखक के पास मैं थी, उस लेखक ने मेरे नीलाम होने के पहले ही इस बात की घोषणा कर दी थी और अपने सभी लेखों और कृतियों में उसने कई बार चीख़-चीख़ कर यह एलान किया था कि दुनियाँ में हर चीज़ नीलाम होती है—दीन, धर्म, ईमान, सच-झूठ, क़लम, काग़ज़ यहाँ तक कि आवाज़ भी नीलाम हो सकती है। मेरी छाती पर बैठा हुआ जब वह सनकी, खू़सट और अर्द्ध-विक्षिप्त लेखक यह लिखा करता था तो मुझे बड़ी उलझन होती है। मैं समझती थी यह महज़ उसका वहम है। दुनियाँ में बहुत सी ऐसी चीज़ें हैं जिनका नीलाम नहीं किया जा सकता लेकिन उसने अपने उपन्यासों में, कहानियों में, नाटकों में और कविताओं में, प्रेम, श्रद्धा, सहानुभूति, दया, धर्म सबका नीलाम कराया था...सबको बेचा था, सबकी क़ीमत लगाई और एक दिन जब मेरी चौथी टाँग उसकी लापरवाही से टूट गई, मेरा दायाँ हाथ एक सनकी पात्र के रचनावेश में, लेखक की एक मुट्ठी में चटख़ गया तब मुझे यह विश्वास हो गया कि यह मुझे भी नीलाम की आवाज़ पर चढ़ा देगा और एक दिन उसने यही किया। मेरी टूटी हुई टाँगें जोड़ दीं और न जाने किस चीज़ से मेरा उखड़ा हुआ दाँया हाथ गोंद से चिपका दिया। दो पैसे का गेरुआ रंग मँगवाया, मिट्टी के तेल में तारपीन मिला कर उसने मेरा रंग रूप संवारा। [illegible] को यह भी नहीं सूझा कि कहीं रंग-रूप पर रोग़न चिपकाने से पुराना रूप [illegible] है, लेकिन उसने यही किया और एक दिन मैं नीलाम की बोली पर चढ़ा दी गई।

प्राचीन काल में लोग आसन जमाते थे, सिद्धि के लिये यह आवश्यक सामग्री थी लेकिन आज के युग में किसी भी लेखक का कोई भी आसन नहीं। [illegible] और [illegible] की सिद्धि की [illegible] मचाये हुये हैं। [illegible] लेखक की

तस्वीर चाकन्धारेवाँ, मुट्ठी ताने, दांत बाये, चिल्लाने वाले उखमज की तसवीर है। दंगली जवान महावीरी लगाकर, लाल लंगोटी कसे, अखाड़े में जै जै की ध्वनि से आसमान गुँजा रहे हैं...शक्ति दिखलाने की अपेक्षा पहलवानी में विश्वास करते हैं...लगता है इनके नारों में...जै जै की ध्वनि में एक ख़रीदी हुई लाउडस्पीकर की आवाज़ है जिसका अर्थ है—तुम सुनो चाहे न सुनो लेकिन मैं तुम्हारे कानों में यह गर्म सलाखें डालूँगा...इस पिघले हुए तपते फ़ौलाद को तुम्हारे कानों में डालने का मेरा अधिकार है—फिर ऐसे युग में आसन की क्या क़द्र...कुर्सी की क्या क़ीमत...आबाद रहें फ़र्नीचर मार्केट वाले जो हर रोज़ कल की नई दुल्हन को आज की नई डिज़ाईन के सामने साठ साल की बुढ़िया साबित कर सकते हैं। फिर मुझे तो एक ज़माना हुआ—ज़माना इसलिये कि इस बीच में मैंने कई दुनियाओं को बिगड़ते हुए देखा है...आदमी की अजीब-अजीब शक्ल, अजीब-अजीब तस्वीरों को देखा और परखा है...आदमी जिसकी एक शक्ल उस हवलदार में थी जो प्रेम और सद्भावना रखते हुए भी तमाम ज़िन्दगी जेल में और जेल के बाहर रहा... [illegible] चक्र, शनि और शुक्र के चक्रों में आत्म-विश्वास खो चुका था...वह शराबी शायर जो शराब के नशे में आदमी से भी बढ़कर एक बड़ा शायर बनना ज़्यादा पसन्द करता था...वह ड्राइवर ज्वाला [illegible] और [illegible] नायिका [illegible] जो जीवन के यथार्थ को स्वीकार करते हुए भी [illegible] की बातें करती थी और फिर भी [illegible], अपने चारों ओर [illegible] की [illegible] में असमर्थ थी। वह [illegible] डाक्टर, जो ज़िन्दगी को [illegible] एक घड़ी की [illegible] में बाँध कर रखना चाहता था जिसके सामने न तो भावनाओं का मूल्य था और न आस्थाओं का। वह वैज्ञानिक जो चूहों के ख़ून में आदमी का ख़ून मिलाकर किसी बड़े अनुसन्धान को ज़िन्दगी से भी बड़ा समझ बैठा था...वह कमज़ोर लेखक जो अपनी कमज़ोरी को छिपाने के लिये अश्लील सूत्रों में बात करता था...वह रेलवे गार्ड जो एक ही कापी में [illegible] के लिए राम नाम लिखता था और उसी में अपनी रिश्वत की कमाई का हिसाब भी जोड़ता जाता था—यह शक्लें, यह तस्वीरें और इनका [illegible] आज मुझे यह शक्ति देता है कि मैं निर्जीव, जड़, अचेतन, पंगु और कठोर होकर भी इन सबसे अच्छी हूँ...इन सब की अतिवादी विकृतियों से दूर हूँ—साधारण हूँ।

जो हवलदार मेरे कन्धों पर बन्दूक रखकर उसमें तेल और पालिश [illegible] करता था, ज्योतिषी पंडित मेरे हाथ पर गुड़ का चूरा रखकर हवन

किया करता था जिसके कारण आज भी मेरी दायीं हथेली पर एक गहरा काला घाव है या वह शराबी शायर जो लाल परी शराब ढाल कर उर्दू में ग़ज़लें लिखता और गतिशील, प्रगतिशील, दुर्गतिशील साहित्य, संस्कृति, कला, सेक्स, रोमान्स और गालियों की बकवास सुनाया करता था—मुझे लगता है ये सब मेरी अपनी ज़िन्दगी से छोटे हैं।

इस ज़िन्दा मज़ाक की चरम परिणति भी अजीब हुई। मैं एक ऐसे दार्शनिक वैज्ञानिक के पास पहुँची जो सीधे ढंग से कहने के बजाय उलट फेर कर कहता था। मिसाल के लिये जब वह भूखा होता तो बजाय इसके कि भूख लगी है, वह कहता—आत्मा और शरीर का गहरा सम्बन्ध है और शरीर के तन्तु-स्नायुओं को क्रियाशील बनाने के लिये कुछ रसायनों की आवश्यकता होती है, इसलिये शरीर और आत्मा के समन्वय को स्थापित रखने के लिये कुछ रस-प्रधान स्थूल शाक की आवश्यकता है। यहाँ तक कि वह अपनी प्रणय की सेक्स-प्रधान भावना को भी आत्म-मिलन, सूक्ष्म, असीम, अभेद, अखण्ड, मूलाधार, कुण्डली-चक्र कहकर, जाने क्या क्या उठक-बैठक कराया करता था। काले, दुबले, पतले, पिचके, सिमटे और हर पाँचवें मिनट पर एक कविता लिखने की आदत वाले, हर दूसरे रोज़ एक कहानी और हर महीने एक उपन्यास को जन्म देने वाले उस लेखक का अनुभव भी कुछ कम महत्व पूर्ण नहीं है। यह महाशय भी अजीब थे जो लिख लिख कर ट्रंकों में रखने के सिवा कुछ नहीं जानते थे। लेखक भी इत्तफ़ाक़न हो गये थे। वैसे होने जा रहे थे एक मनोवैज्ञानिक। एक अधूरी थीसिस के लिखने में जो फिसले तो फिर लेखक हो गये। लेखक भी ऐसे जो लिखते थे दीमकों को सौगात देने के लिये, क़लम घिसते थे महज़ हाथों की खुजली मिटाने के लिये। यों उन्हें फ़ुरसत ही कम मिलती थी लेकिन चौबीस घण्टे में अगर एक घण्टा भी मेरी छाती पर सवार होते तो, उफ़ मेरी कचूमर निकाल कर रख देते थे। जनाब वह थपेड़े सहने पड़ते कि होश फ़ाख्ता हो जाते थे और इसी स्थिति में यानी अपने ही पात्रों की रचना करने में उन्होंने मेरी एक टाँग और एक हाथ तोड़ डाला था और अन्त में टूटी हुई बेकार समझ कर मुझे नीलाम की आवाज़ पर चढ़ा दिया था।

लेकिन इस नीलाम के बाद भी मुझे एक नीलाम और देखना था। लेखक के यहाँ से मुझे एक मारवाड़ी ख़रीद ले गया। तीन रुपये बारह आने की कीमत में [illegible] लेखक के यहाँ से उठाई गई तो एक [illegible]

आदमी से ऊब गई। आदमी भी कितना जल्दबाज़ है, ऊपरी मुलम्मे पर क़ीमत लगाता है, ख़रीदता है, बिकता और बेचता है। न तो असलियत जानने का उसके पास अवकाश है और न वह जानने की कोशिश ही करता है। ऊपर की चमक में दुनियाँ आ ही जाती है, गार्ड भी आ गया और जब वह मेरे ऊपर अपनी फ़र्शी बढ़ाकर पीने बैठा तो मेरी चौथी टाँग जो पहले ही से टूटी थी निकल गई। हाय हाय कर के बिचारे ने अपना हाथ मेरे हाथ पर रखा, लेकिन इसी खींचातानी में मेरा टूटा हुआ हाथ भी जाता रहा और बेचारा मुँह के बल ज़मीन पर जा गिरा। नाक, ठुड्डी और गाँठें एक ओर छिल गईं दूसरी ओर उनके सिर पर चिलम औंधी गिर पड़ी। गुस्सा शान्त होने पर उन्होंने लेखक को भी खोलकर गाली दी और दूसरे रोज़ रेलवे नोटिस बोर्ड पर चाक से यह लिखा हुआ पाया गया कि—

'एक अदद कुर्सी जिसका बाँया हाथ और चौथी टाँग टूट गई है कल नीलाम होगी—जिन साहब को लेना हो नीलाम की बोली बोल कर ले जाँय...'

और दूसरे रोज़ मेरा खुला नीलाम हुआ। पैसे दो पैसे से बोली शुरू हुई। मेरी खस्ता हालत, पस्त क़दामत को देखकर लोग यह अन्दाज़ नहीं लगा सके कि मेरी असली क़ीमत क्या है। क़ीमत जब रुपयों में तुलने लगी तो मुझे भी सन्तोष हुआ। पहले जितने लोगों ने क़ीमत लगाई वह महज़ आनों तक ही पहुँच कर रह गई। मवेशी अस्पताल के कम्पाउण्डर ने ही सब से पहले मेरी क़ीमत एक रुपये तक पहुँचाई, [illegible] निकालने के लिये गार्ड साहब गला फाड़ फाड़ कर चिल्ला रहे थे—

'एक रुपया...एक रुपया एक...एक रुपया दो...बोलिये साहब कुछ तो बढ़िये जनाब...ज़रा ग़ौर करिये इसे मैंने बड़ी मेहनत से ढूंढ़ा है...बड़े काम की चीज़ है...यह टूटी टाँग, ये टूटे हाथ, यह तो पुख्तगी और सिन-रसीदा होने के सबूत हैं...हिम्मत करिये...आगे बढ़िये।'

और तब उन [illegible] की बोली में से एक ने एक रुपये चार आने क़ीमत लगाई। [illegible] ने एक रुपये पाँच आने क़ीमत लगाई... एक 'कोकशास्त्र' नामक पत्रिका के सम्पादक [illegible] ने एक रुपये बारह आने लगाये और [illegible]—

'[illegible] ...शुद्ध शीशम [illegible] मैं तो [illegible] की क़ीमत लगाता हूँ [illegible] की नहीं'—लेकिन [illegible] डिब्बा-कलेक्टर

और आने किस-किस ने कीमत लगाई और अन्त में तीन रुपये बारह आने छः पाई पर गार्ड साहब ने मुझे एक नेता के हाथ बेच दिया। बोली बोलने के बाद कीमत की चौथाई देकर उसने मेरा निरीक्षण शुरू किया। चारों ओर से देख भाल कर बोला—'किसी सिविलियन बुर्जुआ की कुर्सी मालूम पड़ती है... कमबख्त ने इसकी टाँग और हाथ जुड़वाये भी तो सरेस से—और इनकी छाती के बीच जब तक फौलाद की ढाली हुई कीलियाँ न कसी जायगी तब तक मज़बूती नहीं आयेगी—देखिये तो सही इस पर च्वाकलेट कलर का रंग करवाया है...लगता है सस्ते किस्म का रोमान्सवादी है...मैं तो इसे लाल रंग में रंगवाऊँगा बिलकुल लाल रंग में।'...

और जब नीलाम की बोली खत्म हुई तो नेता महोदय ने मज़दूरों से चंदा किया। तीन रुपये बारह आने छः पाई गार्ड साहब को दिये और कुर्सी को वेटिंग रूम में रखवा दिया। एक नवजवान पेंटमैन को—जिसकी बुद्धिहीनता से नेता जी विशेष रूप से प्रभावित थे यह भी आदेश दिया कि मौके से उसे पार्टी दफ्तर में पहुँचवा दिया जाय ताकि मीटिंग में चेयरमैन को बैठने की सुविधा हो सके।

इस तरह पिछले कई दिनों से मैं इसी वेटिंग रूम में पड़ी हूँ। काल की तो सीमा नहीं है, भाग्य की भी क्या बात कहूँ।...इसी बीच मुझे क्या क्या अनुभव हुए, कितने उतार-चढ़ाव और संघर्षों को मैंने देखा, यह बात भी मुझे स्मरण रहेगी। वस्तुतः मैं एक व्यंग्य के रूप में वेटिंग रूम में पड़ी हुई हूँ। कोई मुझ पर बैठने का साहस नहीं करता, और जो बैठता है ऐसा गिरता है कि फिर उठने का नाम नहीं लेता...सब ने सब कुछ समझा लेकिन कोई यह नहीं समझ पाया कि मेरी आत्मा स्वतन्त्र थी, स्वतन्त्र है और भविष्य में भी स्वतन्त्र रहेगी। मेरे शरीर पर चाहे जितनी फौलाद की कीलें कसी जायँ, चाहे जितना लाल रंग पोता जाय लेकिन एक बात तय है और वह यह कि कोई उखड़ी हुई चीज़ [illegible] नहीं [illegible], इसलिये मेरे शरीर पर लगाया हुआ प्रत्येक जोड़ मेरे टूटे हुए जीवन को ही [illegible] करेगा और मेरी आत्मा बन्धनों से मुक्त ही रहेगी।

वैसे तो वैयाकरणों के मतानुसार मेरी आत्मा पुल्लिंग है लेकिन चूँकि [illegible] ने आत्मा को स्त्रीलिंग बना कर छोड़ दिया है इसलिये मैं इस बात को [illegible] कि मैं [illegible] का विरोध

नहीं करना चाहती...जनमत के सामने मैं सदैव नतमस्तक हूँ इसलिये निरपेक्ष, स्वतन्त्र, और निर्भीक होते हुये भी मैं स्त्रीलिंग में ही बोलूँगी। यद्यपि मेरा आकार नीलाम किया जा चुका है लेकिन मेरी हड्डी जो शीशम की बनी है और मेरी आत्मा जो स्वतन्त्र है, मुक्त है, वह न तो कोई नीलाम कर सकता है और न वह बिक सकती है...

अभी अभी इस वेटिंग रूम में एक अपाहिज डाक्टर मेरी छाती पर पैर फैलाये बैठा था। देख के तरस आती थी लेकिन न जाने क्या बात थी वह बड़ा ही शान्त था। उसके चेहरे पर किसी क़िस्म की घबराहट नहीं थी। वह केवल गम्भीर मुद्रा में सारी वस्तुओं को देख रहा था। डाक्टर भी अजीब था। उसका बांया पैर कटा हुआ था और बांया हाथ टखनों से गायब था। उसके पास एक आला, एक होमियोपैथिक के दवाओं का बक्स और एक मोटी किताब थी। उसके साथ एक स्त्री थी, जिसकी आवाज़ इतनी सख्त और कर्कश थी कि जब वह बोलती तो सारा वेटिंग रूम झन-झना उठता था। लेकिन वैसे उसके उसके चेहरे से एक अजीब सरलता टपकती थी। वह बात बात में अपाहिज डाक्टर को डांट जरूर देती थी लेकिन फिर दूसरे ही क्षण उसके प्रति स्नेह भी प्रदर्शित करने लगती थी। उसे समझाने की कोशिश करती, हर प्रकार से उसको सन्तोष देने की चेष्टा करती। लेकिन डाक्टर उसके डांटने पर कहता—

'डू नाट टीज़ योर नर्व्स। आई विल बिहेव एकार्डिङ्ग टु योर विल!'
और फिर वह खामोश हो जाता। उसके साथ एक अफ़ग़ान भी था जो बार-बार डाक्टर से कहता—'साब, थोड़ा आराम कर लो...अभी बहुत देर है।' लेकिन अपाहिज डाक्टर अपनी किताब कभी भी नहीं बन्द करता। पहले-पहले अफ़ग़ान ने [illegible] नर्सों को थोड़ा [illegible], [illegible] वह समझ [illegible] दवा करना बन्द [illegible] उसकी हद तक [illegible] और [illegible] भी लेना है...समझे...और दूसरे ही क्षण जब वह [illegible] के लिए [illegible] उसने [illegible] फ़जूल [illegible]...

और वह काँपते हुए उठा था...स्टेथिस्कोप गले में लटका कर फिर गिरी हुई कुर्सी पर इतमीनान से बैठ गया। विस्मय की बात तो यह थी कि वह इस हालत में भी पन्ने के पन्ने उलट कर पढ़े जा रहा था। कभी कभी वह अपने ही बड़बड़ाता और कहता—'दुनिया की समस्यायें और सारी बीमारियाँ दिमाग़ से होती हैं, अगर दिमाग़ दुरुस्त हो तो सब ठीक हो सकता है—आज के ज़माने का सबसे बड़ा मर्ज़ न्यूरासिस है—आदमी आज अपने केन्द्र स्थल से विस्थापित हो चुका है—उसके दिमाग़ में तरह-तरह के कीड़े पैदा हो गए हैं जो उसे चैन से बैठने नहीं देते—केकड़े की तरह तीखी चुभने वाली टाँगें लेकर जब ये कीड़े अपनी सारी भूख उसके पिलपिले भेजे में चुभा देते हैं तो फिर आदमी-आदमी नहीं रहता...मनुष्य घृणा करना चाहता है...हिंसा-प्रतिहिंसा का समर्थक बन जाता है...लेकिन घृणा करना भी आसान नहीं है...वह घृणा भी नहीं कर पाता...घृणा, प्रेम, हिंसा, प्रतिहिंसा प्रत्येक का आडम्बर कर पाता है...काश कि कहीं ये दिमाग़ी कीड़े उसे ईमानदार रहने देते...लेकिन विडम्बना तो यह है कि जो जितना बड़ा न्यूरॉटिक होता है दुनिया में उसे उतना अधिक सम्मानित करती है...'

शायद वह आगे कुछ और सोचता लेकिन उसके साथ आई हुई महिला ने उसकी चिन्ता को बिखेर दिया। पास आकर बोली—'खाने का समय हो गया है...कुर्सी आ गई है...बाहर चल कर बैठ जाइये...'

और जब वह वहाँ से उठकर डिनर के लिये जाने लगा तो उसने अपनी बैसाखी, चैस्टर और एक पैर का जूता वहीं छोड़ दिया। चलते समय उसने पठान से कहा—'इस टूटी हुई कुर्सी को ठीक कर दो...शायद कोई इस पर बैठ जाय और उसे चोट लग जाय...'

चार कुलियों के कन्धों पर एक कुर्सी पर बैठा वह प्लेटफार्म में डाइनिंग कार में जा रहा था। प्लेटफार्म के सभी आने जाने वाले उसे घूर-घूर कर देख रहे थे...आदमी, वह आदमी जो अपाहिज है लेकिन फिर भी ज़िन्दा है...

लेकिन डाक्टर की मेरे प्रति प्रकट की [illegible] नहीं आई क्योंकि जब वह स्वयं मर्ज़ को, ऑपरेशन को [illegible] चाहिए था कि वह मेरी बाकी टाँगों को तोड़ कर मुक्त कर देता...इस अधमरे शरीर से तो यह पूर्ण मुक्ति कहीं अच्छी होती लेकिन डाक्टर [illegible] अपनी टूटी फूटी सभ्यता [illegible]

वह खुद भी टूट चुकने के बाद जिन्दा था क्योंकि प्रत्येक बौद्धिक, बौद्धिक मौत को ही मौत मानता है...वह समझता है कि जब तक उसकी बुद्धि जिन्दा है तब तक वह भी जिन्दा रहेगा।

२

इस दूर के सूने पहाड़ी स्टेशन पर भीड़भाड़ शायद ही कभी होती हो। लगता है बाबा आदम के ज़माने से ही शैतान यहाँ नहीं पहुँच सका है। हैरत है जनाब! जहाँ आदमी रहते हों वहाँ शैतान न पहुँचे और फिर चन्दनपुर जैसे स्टेशन पर ? लेकिन दुनियाँ में बहुत सी अनहोनी घटनाएँ होती हैं उनमें से यह भी एक है...भूलते भटकते रेलगाड़ी की एक लाइन ही यहाँ तक पहुँच सकी है। लेकिन दुनियाँ की अजीबो-ग़रीब बातें देखना हर किसी की क़िस्मत में नहीं होता, मेरी ही क़िस्मत है कि मैं देखती हूँ और सुनती हूँ और इस क्षण जो कुछ देख रही हैं सुन रही हूँ वह भी अजीब है। डाक्टर की लाल मोटी मैटेरिया मेडिका में से एक दीमक निकलकर मेरी बाँह पर आ गया है...बार बार वह मेरी हड्डी पर दाँत गड़ाने की कोशिश कर रहा है लेकिन जनाब यह हड्डी ही का असर है कि उसकी दाल नहीं गल रही है लेकिन मैं कहाँ कच्ची हूँ यह मैं खूब जानती हूँ और मुझे भय है कि कहीं यह बाँह से सरकते सरकते मेरे हृदय की ओर न बढ़े और अगर यह बढ़ा तो खून तो खटमलों ने चूस ही लिया है दिल भी ख़त्म हो जायगा। [illegible] [illegible] [illegible]हीं कि मैं मौत से डरती हूँ लेकिन इसका यह मतलब ज़र[illegible] के चूल्हे में चिता बन कर जलना चाहती हूँ, यों ही पड़ी हुई सड़ कर मरना नहीं चाहती। मगर वाह री क़िस्मत...दीमक को मेरी हथेली पर देख करके एक खटमल भी यहाँ पहुँच गया है। मैं काफ़ी देर से अब इनकी बातें सुन रही हूँ यह भी ज़माने की ही खूबी है साहब कि इन्सान के बारे में खटमल और दीमक आपस में [illegible] मुबाहिसा करें। [illegible] [illegible] दूसरे को पहचाना [illegible]

'[illegible] कहाँ चढ़ा जा रहा है... [illegible]

दूसरा थोड़ी देर चुप रहा लेकिन इस असम्भावित वक्तव्य की आशा उसे नहीं थी। तीक्ष्ण बुद्धि के कारण वह इस उजड्ड का कोई जवाब तत्काल ही देने में असमर्थ था। यों तो वह एमर्सन, कार्लाइल, दान्ते, कान्ट, हेगेल, मार्क्स सब को पी चुका था। लेकिन इस अवसर पर वह इस उलझन में पड़ गया कि वह किस के मतानुसार जवाब दे। लेकिन पहला खामोश नहीं रहा उसने इसी बीच फिर दोहराया—

'तुम को इन्सान का भेजा पसन्द है...इन मोटी किताबों में पिलपिले माँसल भेजे के सूक्ष्म रूप की तुम प्रतिक्रिया हो...आज इस ठोस धरातल पर तुम कैसे उतर आये ?'

क्रोधावेश में दीमक के दिमाग में कई तर्क आये लेकिन आवेश को सन्तुलित करने के प्रयास में वह सब कुछ भूल गया और अन्त में उसे अनुभव हुआ कि उसके दिमाग में एक चक्कर सा चल रहा है और वह उस शून्य स्थिति को पहुँच गया है जहाँ न उसे खटमल दीख रहा है, न कुर्सी, न उसकी खाल ! लेकिन इसी बीच उस लाल रेंगते हुये जीव ने आगन्तुक की स्थिति को भाँप लिया और बोला—

'तुम हताश हो गये...शायद तुम्हें नहीं मालूम कि मैंने तुम्हें सर्वप्रथम उस दार्शनिक के यहाँ देखा था जो यूनिवर्सिटी में अध्यापक था। उस समय मैं इसी कुर्सी में था। इसी के ऊपर बैठ कर उसने बड़ी से बड़ी भयंकर किताबें पढ़कर ख़त्म की थी...लेकिन उस समय तुम में बड़ा गर्व था...बड़ा घमण्ड था, तुम बात बात में मुझ से उपेक्षा की भावना रखते थे...लेकिन आज इतने रुग्ण...पीड़ित...फीके फीके से क्यों हो जी...?

'ज़िन्दगी उन किताबों के पन्नों में भर सी गई है... पहले मैं इस कुर्सी के साथ था...वह कबाड़ी जिसने हीरपुर का जङ्गल ख़रीदा था उसके यहाँ काफ़ी पुरानी लकड़ियाँ भी पड़ी थीं लेकिन एक ज़माना आया जब उसके पास आवश्यकता से अधिक पैसा हो गया और उसने कबाड़ी पेशा छोड़ कर नई लकड़ियों का फ़र्नीचर मार्ट बनवाया। इस स्थिति में मैंने इस कुर्सी में शरण ली जो तत्काल ही किसी फौजी आफ़िस में जाने वाली थी। फिर उस फौजी ज़िन्दगी से, हवल्दार की वर्दी-पेटी से लेकर ज्योतिषी, शायर, कवि, डाक्टर जाने किस-किस के यहाँ भटकता रहा।

खटमल खामोश हो गया ! कुछ देर सोचने के बाद बोला ..'लेकिन

यार इस के माने तुमने काफ़ी लम्बी चौड़ी ज़िन्दगी देखी है। बड़े उतार-चढ़ाव देखे हैं'...

'नहीं जी...जब मैं शायर के यहाँ पहुँचा तभी से मुझे किताबों का चस्का लग गया...रहता था कुर्सी में लेकिन मेरी आत्मा को मेरे शरीर को सुख मिलता था शायर के पुराने ख़स्ता दीवानों में...आशिक़ के कलेजे, गुर्दे, जिगर, दिल, ख़ून...क्या-क्या नहीं था उसमें...और जब मैं उस के यहाँ से दार्शनिक के यहाँ आया तो फिर क्या कहना...वहाँ तो कुछ दिनों बड़े-बड़े शिकार मिले...लेकिन तब तक मैंने कुर्सी में रहना छोड़ दिया था... कभी मार्क्स के कैपिटल में रहता, कभी कान्ट में, कभी किसी कविता की पुस्तक में जाता, कभी किसी शास्त्र के पन्नों में उलझा रहता, और तब धीरे-धीरे मैं उन सब की आत्माओं का रस लेने लगा, उनको चाट चाट कर स्वस्थ होने की कल्पना करने लगा, जिन्होंने आदमी का दिमाग़ सातवें आसमान पर चढ़ा दिया था और आज वह हमें तुम्हें, इन्हें उन्हें और स्वयम् अपने ही जाति के लोगों को विभिन्न वर्गों और सीमाओं में बाँट कर देख रहा है।'

दोनों थोड़ी देर तक मौन होकर उसी मेरे हाथ पर अपने पंजे सिकोड़े बैठे रहे, निस्तब्ध, मौन, किसी चिन्ता में डूबे से, लेकिन इसी बीच एक अजीब शोर हुआ। स्टेशन पर साइरेन की आवाज़ गूँज उठी। इतनी तेज़ आवाज़ कि कान के परदे फटने लगे। स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर चहल पहल मचने लगी। अन्धेरी रात में चारों ओर सिगनैल लैंपटर्न ले लेकर [illegible] दौड़-धूप करने लगे। और अन्त में पता यह चला कि पहाड़पुर स्टेशन पर दो गाड़ियाँ एक दूसरे से टकरा गई हैं और काफी आदमी घायल होकर मर गये हैं। कोई कह रहा था लाइन धँस गई है...कोई कह रहा था पुलिया टूट गई है...कोई कुछ कह रहा था और कोई कुछ। लेकिन मेरे हाथ पर बैठे हुये ये दो प्राणी केवल सुन रहे थे और जब सब सुन चुके तो एक ने कहा—'अब तुम यहाँ से कैसे [illegible] आगे जाने से रही...और अगर यहाँ रहोगे तो इस खुले [illegible] ज़मीन में तुम बीमार पड़ जाओगे...और अगर यहाँ अस्वस्थ हो जाओगे तो तुम्हारे कई मकसद [illegible]...

'ठीक है जी, मैंने [illegible] किताबों का स्वाद लिया था केवल [illegible] किताबें [illegible]
[illegible] दार्शनिक की किताबों [illegible] और [illegible]
[illegible] अपने [illegible] से [illegible] लेकर [illegible]

था...जितने दिन भी रहना पड़े...यह मोटी किताब मेरे लिये काफ़ी होगा... ख़तरा महज़ इस डाक्टर से है जो एक मिनट के लिये इस किताब को छूने नहीं देता हमेशा अपने सीने से ही लगाये रहता है'...

'डाक्टर ?...क्या तुम्हारा मतलब इस अपाहिज से है ?'

'हाँ...हाँ यही डाक्टर मेजर नवाब.....आप इन्हें क्या समझते हैं जनाब...इनकी एक टाँग टूट गई है और इनका हाथ लगातार लिखते रहने से विकृत हो गया था जिसे इन्होंने महज़ इसलिए कटवा दिया है; ताकि यह चीज़ों को महज़ लिखें ही नहीं हज़म भी कर सकें, सोच समझ भी सकें... और अब इनकी ज़िन्दगी क्या है, एक मज़ाक है जो जीने और मरने से भी रही...'

और फिर एक ज़ोर का शोर हुआ...प्लेटफ़ार्म पर भीड़ लग गई... स्टेशन से काफ़ी लोग एक स्पेशल ट्रेन में घटना-स्थल की ओर जाने लगे। थोड़ी देर में प्लेटफ़ार्म पर मौत का सा सन्नाटा छा गया। हर दिशा से सब तरफ़ से केवल ख़ामोशी ही सांय सांय करने लगी और जब मरीज़ों की कुर्सी पर लेटा हुआ अपाहिज डाक्टर कमरे में आया तब तक केवल एक खटके के कारण दीमक मोटी किताब में और खटमल उसी मेज़ की दराज़ में चले गए। मैं अकेली रह गई...केवल अकेली। मेरे मन में तो इन दोनों की बातें सुन सुन कर अनेक भावनाएँ लड़ने लगी थीं।

मेरे दिमाग़ में तो पास वाली पुलिया की दुर्घटना गूँज रही थी। अनगिनत आदमियों की ज़िन्दगी महज़ तीन अंगुल पटरी से सरक कर आज समाप्तप्राय हो चुकी थी...कितने ही मौत के घेरे में घिर पड़े होंगे वह जो बचे होंगे वह भी मौत के घेरे के बाहर औंधे पड़े अपनी साँसें गिन रहे होंगे। कितना कम फ़ासला ज़िन्दगी और मौत के बीच है...देखिये न, मैं इस बीच जाने क्या क्या सोच गई, जाने क्या-क्या मैंने कह डाला लेकिन मेरी गुमसुम हुई नींद ने ज़िन्दगी की एक बात भी ठिकाने से नहीं सोची। सहसा मेरी नज़र वेटिंग रूम के बाहर जा पड़ी...इस घोर घुप अँधियारी रात में दो पैट्रोमैन आपस में कुछ बातें कर रहे थे...उनकी आवाज़ें कान में पड़ीं —

'सुना चौदह अप से बारात जाने वाली थी...'

'तो क्या हुआ, मौत, शादी, बारात, किसी का इंतज़ार नहीं करती'

'तब तो सारे के सारे बाराती परेशान और तबाह हो गये होंगे...'

'सारे के सारे क्यों तबाह होंगे...जितने आदमियों की ज़िन्दगी मौत को लेनी होगी उसने ले लिया होगा...बाक़ी तो बचे होंगे...'

'तुम्हारा मतलब ज़िन्दगी और मौत का कोई नियम नहीं है...बस होना होता है इसलिए हो जाता है...'

दूसरा पैट्रोमैन जो वृद्ध था चिलम की एक लम्बी कश खींचते हुए बोला

'जुए की कौड़ी की तरह आदमी की ज़िन्दगी और मौत का भी सवाल है...मेरे बच्चे, अपनी मुट्ठी में होते हुए भी, खुद ही उनको संचालित करने पर भी तुम निश्चय नहीं कह सकते कि कौन कौड़ी चित्त पड़ेगी और कौन पट...!"

नौजवान व्यक्ति यह स्वीकार करते हुए भी जैसे आपत्ति की मुद्रा में बोला—'मौत के झटके तो ज़िन्दगी हर साँस पर झेलती है...यह तो ज़िन्दगी पर है जब चाहती है मौत के हवाले कर देती है...ज़िन्दगी तो हर सांस मौत की मुट्ठी में है...मौत की मुट्ठी में...'

'जो ज़िन्दगी मौत की मुट्ठी में होती है उसे मौत कभी नहीं पूछती, मेरे बच्चे, बिलकुल नहीं पूछती...बिल्कुल...'

और इसी समय रेस्ट शेड से किसी शख्स के चीख़ने की आवाज़ आई। दोनों चौंक गये। शन्टिंग के लिये खामोश मालगाड़ी के डिब्बे प्लेटफ़ार्म पर खड़े थे। शख्स रेस्ट शेड से चल पड़ा था। बूढ़े ने उस कटकटाती हुई सर्दी में अपनी लालटेन उठायी, शख्स की ओर हरा सिगनल दिखलाता हुआ प्लेटफ़ार्म की ओर बढ़ गया। नवजवान ने पटरी बदलने के लिये फ़ौलादी सीखचों को खींचा...[illegible] किया और बड़े ही सहज और स्वाभाविक ढंग से शख्स रेल की पटरियों पर दौड़ने लगा—नवजवान ने सोचा—'इस शख्स में भी तो ज़िन्दगी है, साँस है, किन्तु इसकी स्थिति इसकी दिशा मेरी मुट्ठी में है...जब चाहूँ जिधर मोड़ दूँ, जब चाहूँ मौत का तहख़ाना दे दूँ...'

तीसरा प्लेटफ़ार्म के दूसरे छोर पर वृद्ध पैट्रोमैन केवल एक बात जानता था कि इंजिन को मौत के लिये केवल एक हरी रोशनी की ज़रूरत है...उसे बिल्कुल पथ, रेल से, आदमी से कोई मतलब नहीं...उसको कभी इनकी चिंता ही [illegible], [illegible] एक बात जानता है—और वह है—हर रेस्ट के [illegible]...और [illegible] है।

मालगाड़ी के डिब्बों में एक [illegible]...[illegible] दिशा में डिब्बों के [illegible]...बस एक बार फिर [illegible] और गति के साथ

सड़क—बाहर की, भीतर की

अनन्तकुमार पाषाण

जब पहले दिन स्कूल से अपने नये कोट पर मैं तेज़ नीले रंग की ज़िद्दी रोशनाई डलवा कर घर आया तो बिला वजह एक बार पढ़ना शुरू करके अकस्मात छोड़ी हुई संस्कृत की शुरुआत दोहरा रहा था—पठ पठामि, चल चलामि। और फिर सड़क से उतर कर वह ठंडी-ठंडी क्रिश्चियन सेमीनरी की जो पेड़ों-छुपी इमली-पली इमारत थी, उसकी पक्की चौड़ी मुँडेर के ऊपर तक आ जाने वाली मेंहदी की क्यारी में से कुछ पत्तियाँ नोंच कर हलक को तर करते हुए मैंने कहा—'पिट-पिटामि, पिट-पिटामि—माच खाबे आमी, माच खाबे आमी—' ग़लत-सलत बँगला कि जो मेरे भावों को—तली हुई मछली के प्रति मेरे प्रेम को व्यक्त कर रही थी—माच (या माँछ, खुदा जाने) आमी......

सड़क पर बजरी और कोलतार का पिचक्का करके, अगले चौड़े और वज़नी इकलौते पहिये [illegible] के दो पहियों से मसलकर सड़क के इंजन ने सड़क को [illegible] मुँह बाये, पंजे समेटे वह सलेटी रंग की सड़क न जाने कहाँ से आकर, कहाँ चली गयी थी! मेरे मकान से फूटने वाली जो नदी-सी पगडण्डी [illegible] राजपथ में मिलती, वहाँ मेरा एक दोस्त रहता था, जिसके मकान के सामने एक ऊबड़-खाबड़ बैडमिंटन कोर्ट था, जिस पर बहुत बड़ी [illegible] तक कौमार्य द्वारा कुतरी मोथरी पारसिनें शाम को आकर मोहल्ले के भोंदे लड़कों से बैडमिंटन खेलती थीं। फिर आटे की चक्की की कुप्प कुप्प, पीपल [illegible] लम्बी दाढ़ी हैडमास्टर मिस्टर बद्रुद्दीन का मकान जिस पर टाट के पर्दे हमेशा पड़े रहते!

घर के आँगन के किनारे-किनारे जो एक खोखली-खोखली नाली बनी गयी थी, उसे छिपाने [illegible] थीं। रसोई में पीतल का [illegible] और उनके बीच में आम [illegible] और [illegible] आड़ [illegible], [illegible]

'अम्मा ने कड़कती आवाज़ में पूछा—'यह नये कोट पर रोशनाई कैसे गिरी ?' 'स्कूल में मुझसे चौगुनी उम्र के एक लड़के ने फेंक दी', कहना नाकाफ़ी था ! 'मुझ पर कोई क्यों नहीं फेंक देता !' 'तो तुम बाहर जाती हो ?' मैंने खिलखिला कर पूछा !

तो सवाल है बाहर का ! बाहर...बाहर...बाहर...और इस बाहर से हाथ जिसे मिलाना है मगर तरेरी आँखों से अपने अस्तित्व की सत्ता को भी प्रकट करना है, वह है भीतर...भीतर...और अधिक भीतर जहाँ जंगल होंगे और शब्द पूर्णिमा के दिन कच्चे चूने से चाँद को देख कर हुआ-हुआ करने वाले स्यार होंगे...

और जैसे-जैसे किताबें पढ़ीं—बूढ़ी फ़लानाजी ने पूछा था कि बाबू, अब कितनी किताब पढ़ गये तुम ?—वैसे-वैसे जंगल कटते गये और मैदान सुलझा हुआ साफ़ सुथरा निकल आया ! इमली के पेड़ पर चढ़ना खोपड़ी के लिये मुश्किल था ! ऊपर चढ़ कर नीचे गिरने की ताक़त खोपड़ी में नहीं बची !

और फिर इन वीरान-सुनसान मैदानों में सिर्फ़ [illegible] की टूक रह गयी...बाहर वालों के लिये एक बाहर वाला दरवाज़ा बना, और किवाड़ों में कोयल अन्दर का ज़नानख़ाना देखने के लिये तरसता रहा !

और अब और भी ज़्यादा समझदारी है ! बाहर के लिये भीतर और भीतर के लिये बाहर—अंडे के लिये छिलका और छिलके के लिये अंडा ज़रूरी है !

यहाँ एक पेड़ है ! इस लम्बे पथरीले लाल रास्ते पर मुड़ कर सामने आ जाने वाला यह पहला पेड़ है ! इसके नीचे बैठना है और यह याद कर-कर के खुश होना है कि दूसरे दिन स्कूल में आकर यह [illegible] भी मैंने कि सब लड़कों ने अपनी-अपनी तलवार तोड़ दी ! मेरे अश्वमेध का घोड़ा किसी ने न पकड़ा ! मैंने बाहर अपना साम्राज्य स्थापित किया !

सामने एक खोटी दुअन्नी का-सा छोटा-सा होटल है, जिसके बाहर 'कोका कोला' का तेज़ाबी बोर्ड लगा है ! दो आने का सोडा ! सोडा सादा, लेमन [illegible] आने का है !! भाई, हमारी जेब में तो दो ही आने हैं !!! आर्टिस्ट हूँ !!!!

और फिर स्वयं अपने-आप को कई बातों का जवाब देना पड़ा—आर्टिस्ट हो तो बाल लम्बे क्यों नहीं हैं ? पायजामा क्यों नहीं चढ़ाते हो ! बीवी से झगड़ा है ? बच्चों को पीटते हो ? सामने के नल पर जब औरतें नहाती हैं तो दीवार पर ज़रा ऊँचा शीशा टाँग कर तुम उनका अक्स उसमें देखते हो ? किसी दोस्त के घर जाने पर और पानी माँगने पर, जब उसकी ईसाई नौकरानी तुम्हें पानी लाकर

देती है तो गिलास लेते हुए तुम उसकी उँगलियाँ दबा देते हो या नहीं ? क महाशय की पत्नी तुम पर मरती है ? नहीं, नहीं तुम आर्टिस्ट ! और फिर अस-फलता का अँधियार है और वही सड़क है जिस पर चलो तो चलो और या ऐसी-तैसी में जाओ !

धीरे-धीरे मुझे सब करना है ! बाल लम्बे रखने हैं, कितनी ही गरमी क्यों न मालूम हो, रखने ही हैं। शराब पीनी है—पैसा खर्च कर नहीं, दोस्तों को मूँड़ कर ! बीबी से झगड़ना है, उससे कहना है—"तुम मुझे क्या 'अन्डर स्टैंड' करोगी ? नहाती हुई औरतों को देखने में जरूर खतरा है ! नहाने के पहले वह लड़ने लगीं तो शरीर के प्रत्येक अंग को नाम कम-से-कम चौसठ बार लेंगी, जितने कि एक रुपये में पैसे होते हैं। मगर देखना है—हर क़ीमत पर वह पुर-असर मंज़र देखना है.. सामने की पान की दुकान पर के रंगीन गुब्बारे बेचने-वाला एक लड़का कान पर हाथ रखकर गा रहा है—

'दिल की बरबादी का मंज़र था नज़र के सामने'...बचपन में मुझसे एक बुढ़िया ने पूछा था—'बड़े होकर तुम क्या बनोगे ?' और मैं तब आर्टिस्ट, कला-कार या इस तरह का कोई शब्द नहीं जानता था। मगर शरत बाबू के सेंटीमेंटल उपन्यास पढ़े थे ! "मैं बड़ा होकर शरत बाबू बनूँगा !" और असंतोष से उस बुढ़िया ने पुनः पूछा था—"बेटा, इंजीनियर नहीं बनोगे, आय० सी० एस० नहीं बनोगे ?" और तब मैंने शान्ति और गर्व से कहा था—"मैं कुछ नहीं बनूँगा !"

मगर कुछ नहीं बनना कुछ आसान है क्या ? यह तो सब ऋषि-मुनि लोग बन सकते हैं ! मैं तो आर्टिस्ट बन गया हूँ। इसमें कई फ़ायदे हैं और नुक़सान यों किस चीज़ में नहीं होते !

एक फ़ायदा तो यह है कि जब कोई चीज़ किसी पत्र में छपती है, तो इधर-उधर थोड़ी-बहुत तारीफ़ हो जाती है। इससे मशीन में तेल पड़ता है और रफ़्तार बनी रहती है। दूसरे चीज़ें छपते-छपते हो सकता है, एक दिन फ़ोटो भी छप जाये ! कितना मज़ा आयेगा, सोचिये ! हाँ, फ़ायदे इतने हैं, तो एकाध [illegible] नाक-भौं सिकोड़ना [illegible] नहीं तो और क्या है ! शायद [illegible] नहीं मिलता ! [illegible] Man does not live by bread alone [illegible] का प्रबन्ध ही करता रहे तो वह [illegible] ! [illegible] का मेस-मैनेजर हुआ ! और [illegible]

सड़क है, इस पर रोज़ कॉलेज से घर और घर से कॉलेज आता-जाता हूँ ! प्रोफ़ेसर को ख़ाली बकबक करनी पड़ती तो दुनियाँ का हर कुत्ता प्रोफ़ेसर हो जाता ! प्रोफ़ेसर को तो चलना-फिरना भी पड़ता है ! लड़के-लड़कियों की मुश्किलें भी हल करनी पड़ती हैं । अब बताइये, कि कौन किस की मुश्किल हल कर सका है ! जो हल हो जाये वह मुश्किल क्या हुई, सुगमतम पहेली हुई, जो कलियुग में निकलनेवाले 'भावयुग' नामक एक अखबार में हर हफ़्ते छपती है !

मगर प्लास्टर-ऑफ़-पेरिस से बने मोम-सा चिकना एक गोल-मटोल पेड़ जो कॉलेज की पीठ को गुदगुदाया करता है, मुझसे रोज़ कुछ-न-कुछ मज़ाक कर बैठता है । आज सुबह पूछने लगा—'बताओ, मेरा नाम क्या है ?' 'पेड़ !' मैंने कहा । 'झूठ ! मेरा नाम 'श्री' है !' बताइये, यह भी कोई 'सेंस ऑफ़ ह्यूमर'—'हास्य-चेतना' है ! मगर यह पेड़ हमारे एक बड़े नेता ने लगाया था और इसीलिये मेरी ज़बान चुप हो जाती है ।

ज़िन्दगी भी मेरी एक पेड़ है । जड़ें गीली मिट्टी के तहखानों में पानी की ठंडी सीढ़ियाँ उतरती चली गयी हैं, और तना अंगद के पैर की तरह जमकर बैठा है । ऊपर सर्वतोमुखी शाखाओं पर सोनहरी शहद बरसता है, बूँद-बूँद करके नीचे पत्ते-पत्ते पर टपकता है, पत्ता थोड़ा झुक जाता है, बूँद टपक जाने के बाद फिर लचक कर ऊपर आ जाता है । अँधेरे और पानी में जनम कर जो उजाला और गरमी की तरफ़ लपकी जा रही है, ऐसी मेरी ज़िन्दगी है । हरेक मछली चिड़िया की तरह चहक जाती है मगर पेड़ स्थिति का द्योतक है, गति का आकांक्षी है तो ऊर्ध्वगामी होकर ! वह उस सूरज के पास पहुँचना चाहता है, जिसे छूने जटायु उड़ा था, जिसे अंजनीसुत हनुमान गूलर का फल समझ कर निगल गये थे, और मायापति कृष्ण ने अपना सुदर्शन जिस पर अड़ा कर जयद्रथ के वध का आयोजन किया था । मैं अपनी शाखाओं से ऐसा ही चक्र रचूँगा । न्याय का एक अर्जुन आज सौ कौरवों का विनाश करेगा !

मैं वट हूँ ! वट-सावित्री के दिन दिशा दिशा से उठ कर अनेक पक्षवती कामिनियाँ चाँदी के चमकते थालों में रोली-केसर लेकर आती हैं, और मेरी पूजा करती हैं । मैं बिल्ववृक्ष हूँ । मेरे पत्तों को भस्म-मण्डित मृत्युंजय अपने मस्तक पर धारण करते हैं । मैं नारिकेल-वृक्ष हूँ, मेरे फलों के खण्डन से पूजा का मण्डन है । मैं पीपल हूँ । प्रलय के पश्चात् उमड़ते सागर पर मेरा ही पत्ता विष्णु की शोभाशाली शय्या बनेगा । मैं अशोक वृक्ष हूँ, जो बिना सुन्दरी के पदाघात से भी फूलता हूँ ।

सो यह भीतर-बाहर का झगड़ा और झकझक सब, बकवास, जड़ें हैं। भीतर से रस ग्रहण करती हैं। बाहर फूल लगते हैं। जेठ की कहर धूप जब भून-भून कर उन फूलों को राख कर देगी, तब मुक्ति का एक बड़ा फल लगेगा! एक बड़ा फल जो राम की मुक्ति के साथ अयोध्या की मुक्ति भी होगा!

सरयू के तीर लीलामय राम खड़े हैं! उधर लहरों की भीड़ है, इधर आदमी हैं, औरतें हैं, बूढ़े-बच्चे, पशु-पक्षी हैं। लहर को लहर धकेल कर आगे आना चाहती है। सूर्य प्रतीक्षा में खड़ा है। अपने वंश के महानतम पुरुष के प्रस्थान के पूर्व प्रस्थान करने की शक्ति उसमें नहीं है। भगवान शान्त खड़े हैं। केशरी उत्तरीय पवन में लहराता है, आस्कंध केश भी विचंचल हैं। प्रपुष्ट बाहुएँ जानुस्पर्शी हैं। कंजलोचन अधमुँदे, अधरों पर हास्य की छलकती छटा—मनोरम रूप है! लीलाधर की लीला आज पराकाष्ठा को पहुँचेगी! भीतर और बाहर के सब रहस्य खुल जायेंगे!

राम ने मुख थोड़ा ऊपर उठाया! स्वर्ण-वलयित आकाश से एक पुरव-राजी गरुड़ ने नीचे उतरने का उपक्रम किया। राम का इंगित पाकर स्थिर हो गया! भगवान मुस्कराये—

'नागरिको, जिस राम ने सदा तुम्हारे लिये क्षण-क्षण व्यतीत किया, कठोर-से-कठोर तपस्या को स्वीकार किया, जिसने तुम्हारे जीवन में मिश्री की भाँति अपने को घुला देना चाहा, उसे तुमसे कुछ कहना है! पुरुषत्व के कठोर अहंकार से थक तुमने राम की सीता पर संशय और शंका के पाहन फेंके! उसके निर्वासन के तुम कारण बने! आज तुम्हें देखता हूँ तो तुम्हारी दुर्बलता मुझे ममता-विभोर कर देती है! तुम्हारे विधान-दुर्ग गिर रहे हैं। तुमने मेरा अनुसरण किया किन्तु अपने अहंकार से पीछा न छुड़ा सके! कारण कि मैं तुम्हारा राजा था। महलों में मेरा लालन-पालन हुआ था। वह महल मेरे और तुम्हारे बीच में प्रकृति की सीमा बने! तुम्हें अब मेरे साथ मुक्ति पानी होगी। मुक्ति को जो स्वीकार नहीं कर सका, [illegible] मुक्ति [illegible] ही [illegible]गी। आज से सहस्रों वर्ष बाद तुम्हारे इसी लोक में [illegible] की [illegible] होगी। एक भयंकर हत्याकांड में अनेक रावण प्रकट होंगे, अनेक सीताएँ उनको पराजित करेंगी। तब तुम्हारी मुक्ति-शक्ति की द्वितीय परीक्षा होगी!.........

और फिर सड़क है। बसें बिलकुल [illegible] पास से निकल जाती हैं! उनकी गति से मुझे तेज हवा के झोंके उपलब्ध हैं। [illegible] के हत्याकांड में मनुष्य फिर पराजित हो गया है। आज लोक की [illegible] भी नहीं है। बड़ा

कठोर दण्ड है । मनुष्य का भीतर और बाहर काट कर अलग कर दिया गया है ! और मैं इस गाढ़ी घुटनों तक आने वाली धूप की भाप में चल रहा हूँ । मेरे लिये छाँह हो तो मुझे दो ! न हो तो चुप रहो !

स्कूल में बदमाश लड़कों को मार-पीट के ठीक कर लिया था मैंने ! बाहर की दुनियाँ थी कि जिसमें सिकन्दर को कोई पोरस नहीं मिला था । मास्टर मेरे नाम से काँपते थे, हेडमास्टर की रूह मेरी शक्ल देख कर फना होती थी ! ड्रिल-टीचर किशन नाम का एक मास्टर था, जिसकी शक्ल बुल-डाग की सी थी ! मैं उससे कहा करता था—'मास्साब, मास्साब, 'बूट' लायेंगे !' जब वह मारने को मेरे पीछे दौड़ता तो मैं आगे-आगे भागता—'बूट माने चनबूट मास्साब ! चनबूट ! छोले !' और यह किशन नामक मास्टर फिर ड्रिल के पीरियड में अपनी लचकती हुई सोटी मेरे घुटनों पर बुरी तरह मारता ! एक दिन सोच लिया गया, ड्रिल नहीं करेंगे ।

लड़के कतार में खड़े । ऊपर सूरज । बैकग्राउन्ड में स्कूल की बड़ी इमारत । किशन ने शासन के स्वर में माँग की—'अटेन्शन !' यहाँ तो पहले ही अटेन्शन थे । अटेन्शन सुन कर और ढीले खड़े हो गये । उसने कतार के दूसरे छोर से चिल्ला कर कहा—'मैं कहता हूँ, अटेन्शन !' मैं ज़मीन पर बैठ गया ! लड़कों को मजा आ रहा था । किशन आगबबूला होकर मेरे पास आया ! मैंने अपने नीले निकर की जेब में से चनबूट निकाले और आराम से खाने लगा । किशन पर इस हरकत ने तेज़ाब का काम किया ! उसने बूट में से सोटी निकाली और मेरे घुटने पर मारनी चाही कि मैंने विश्वास के स्वर में कहा—'झूठी सोटी से मत मारियेगा, वरना आपकी भी खैर नहीं है !' किशन मुझे जानता था, ठिठक गया । मैंने लड़कों को आवाज़ लगायी—'हैंड्स-अप-ड्रिल !' लड़के हँसने लगे ! मैं चनबूट खाता रहा । किशन दौड़कर हेडमास्टर को बुला लाया ।

हमारा हेडमास्टर रुपये में बारह आना अच्छा आदमी था । मोटा-ताज़ा और 'लम्बू' जो लड़के उसे कहते थे, वह भी गलत नहीं था । वह भी साम-दाम-दण्ड-भेद सब का उपयोग करके हार गया, मगर हज़रत वहाँ जहाँ बैठ गये, बैठ गये ! घर आते हुए उसने मुझे एक चिट्ठी दी, जिसे मैंने रास्ते में ही फाड़ कर फेंक दिया......

मगर यह सब तो बहुत बाद की बात है ! शुरुआत सबकी होती है । सबमें एक आदि-कवि होता है जो उसे सिखाता है और बड़े होने पर सबमें अनेक

टीकाकार जन्म लेते हैं। वे बताते हैं कि 'शेखर' 'विद्रोही' था, यह था, वह था! मैं टीकाकारों को अच्छा-खासा मसखरा समझता हूँ। अरे भाई, मूल ही काफ़ी है। अपनी टीका का इस्तेमाल आप अपने ही लिये करें, तो अच्छा!

मध्यभारत में खरगोन नामक एक गाँव है। उस गाँव में मेरे पिता का दफ्तर और मकान एक ही इमारत में थे। वह कस्टम्स के विभाग में असिस्टेंट कमिश्नर थे! उस मकान में बिच्छू बहुत थे! एक बार मेरे बड़े भाई खाना खा रहे थे, छत पर से उनकी थाली में टपक पड़ा! शाम को वहाँ महुए से भींजी हवाएँ चलतीं, दोपहर को उन चौड़े वीरान रास्तों पर धूल के बगूले नाचते फिरते! हमारे मकान की छत पर जो मुँडेर थी, उसके दोनों सिरों पर दो उल्लू की मूर्तियाँ थीं। मैं शाम को उस छत पर बैठ कर उन उल्लुओं की आगे को निकली गोलमटोल आँखें देखा करता था। नीचे के हिस्से में तारा नामक एक स्त्री रहती थी। उसके मुख पर चेचक के चिह्न तो अवश्य थे, पर ब्रजभाषा के कवि की उक्ति कि प्रशंसकों की 'दीठ' जहाँ-जहाँ गड़ गयी, वहाँ-वहाँ चिह्न बन गया, मानों उसी के लिये लिखी गयी थी। उसका पति कन्नौज का था। कन्नौज से वह पीतल का एक गोटा सरौता लाया था जो अभी भी हमारे यहाँ है। मैं ताँबिया आकाश के पिघलते प्रकाश में बैठा उल्लुओं को देखा करता था! तब तारा नीचे के आँगन में चूल्हा फूँकती होती। मुझे ऊपर बैठा देखकर पूछती—'छोटे भय्या, छोटे भय्या खिचड़ी खाओगे?" तो मैं गंभीर होकर ऊपर से पूछता—'कोथमीर डाला है?' और मालूम नहीं वह क्यों हँसने लगती! धीरे-धीरे खजूरों के वे लम्बे पेड़ स्याह पड़ने लगते और आटे की चक्की कमबख्त वहाँ भी थी, सो वही पुराना छुप्प-छुप्प!

हर रोज सुबह हमारे घर के सामने के स्कूल के बरामदे में बच्चे सम्मिलित स्वर में प्रार्थना करते—'हे प्रभो, आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिये!'

इस छोटे-से खरगोन में बावड़ियाँ अनेक थीं, और उन बावड़ियों के पानी में 'नाहरू' नामक एक कीड़ा था। लोग वही पानी पीते और फिर उनकी खाल फाड़कर वह कीड़ा निकलता—[illegible] आता और [illegible] न हो तो फिर 'नाहरू' ही [illegible]! हमारे घर में इसकी दवा बनती थी। नीम के [illegible] का बारीक चूरा करके उसे गुड़ में मिलाकर गोलियाँ बनती थीं, और गाँव के भीलों को बाँटी जाती थीं।

रेल, 'टनैल' में, सुरंग में [illegible] भीतर हो [illegible] गयी है। न तो बाहर ही निकलती है, और न [illegible] ही देती है! ऐसा भी कहीं होता है।

मगर यह खाकी सड़क मानो तह-पर-तह खोली जा रही है। सामने से कुछ मकानें खें-खें किये हिलती-डुलती चली जाती हैं, और फिर आगे दूकानों का हुजूम है। सड़क को दोनों ओर से 'गटर' का आलिंगन प्राप्त है। गटर के तेज़ी से उमड़ते पानी ने एक बार एक छोटी-सी बतख को निगल लिया था! एक पल एक तेज़ खें-खें हुई और फिर वह बतख ज़मीन के नीचे के किन्हीं काले तहखानों में घिसटती गयी। यह बात मैंने किसी को बतायी नहीं थी, मगर मालूम नहीं 'मान्पटी' नामक एक हंगेरियन उपन्यास के लेखक को यह सब कैसे पता चल गया! उसने मेरे लिखने के पहले ही अपने उपन्यास में यह चित्र डाल कर किताब छपा दी!

आदिकवि की रामायण के अनेक पृष्ठ खो गये हैं, अनेक फट गये हैं, अनेक अपना स्थान छोड़कर कहीं और जा बैठे हैं। यहाँ नाटक के दर्शक सीटियाँ बजा रहे हैं। परदा खोलो, नहीं तो हम परदा फाड़ डालेंगे!

थिएटर का मैनेजर दौड़ा-दौड़ा मेरे पास आया—'पाषाण जी, जनता को रोमांस चाहिये! आप अपनी रामायण-महाभारत लिये बैठे हैं! इस बार कुछ प्रेमभरा दृश्य नहीं दिया तो थिएटर बन्द करना पड़ेगा!'

अब क्या किया जाये! मैनेजर को समझाना उतना ही मुश्किल है, जितना कि दिल को समझाना।

मैंने रामायण के सफ़े झट इधर-से-उधर पलटने शुरू किये, मगर प्रेम-कथा मिले तो फिर अपनी जन्म-पत्री ही न बदल जाये! राम-राम करते प्रेमकथा निकली। नाटक हो गया।

नैरेटर—दर्शकों, यह हमारे चरितनायक का एक नया पहलू है! देखिये और तालियाँ बजाइये! सदा गंभीरता की दीवार के पीछे छिपकर झांकनेवाले हमारे चरितनायक के जीवन का एक पुराना अल्बम पेन्सिल की तरह छील दिया जायेगा! तब खिंचेगी लकीर और तब आयेगा कुछ मज़ा। यह दृश्य 'ग्रीन-रूम' का है, और उस समय का है जब हमारे चरितनायक एक कॉलेज में थे और लोगों का ध्यान निहायत अपनी ओर खींचने को ड्रामा करते थे। एक लड़की ने ज़िद की कि वह उन्हीं के हाथ से मेक-अप करवायेगी।

एक स्त्री-स्वर—(इठलाता हुआ) सुनिये!

पुरुष-स्वर—जी!

स्त्री-स्वर—आप भाग क्यों रहे हैं ?

पुरुष-स्वर—मैं तो यहीं खड़ा हूँ !

स्त्री-स्वर—(ठुनकता हुआ) नहीं, आप भाग रहे हैं !

पुरुष-स्वर—मजाक न करिये ! परदा उठने ही वाला है और सबसे पहले आप ही को जाना है !

स्त्री-स्वर—(मानपूर्वक)—हम नहीं जायेंगे !

पुरुष-स्वर—क्यों ?

स्त्री-स्वर—हमारा तो अभी तक मेक-अप ही नहीं हुआ !

पुरुष-स्वर—तो कर डालिये ना ! अभी तो पाँच मिनट हैं !

स्त्री-स्वर—नहीं, हम अपने-आप नहीं करेंगे !

पुरुष-स्वर—अरे, ऐसा न करिये ! आप नहीं करियेगा तो फिर कौन करेगा !

स्त्री-स्वर—आप करिये !

पुरुष-स्वर—(झेंपी हुई हँसी हँसते हुए) मैं ?

स्त्री-स्वर—हाँ, आप ! क्यों, क्या हुआ ?

पुरुष-स्वर—होगा क्या ! (हकलाते हुए) मगर......

स्त्री-स्वर—(रुआँसी आवाज़ में)—तो बोलिये, नहीं करियेगा ?

पुरुष-स्वर—(अनिच्छा पूर्वक) अच्छा !

(थोड़ी देर मौन । हलका-हलका संगीत)

स्त्री-स्वर—(खिलखिलाते हुए) अरे, अरे, आप तो ऐसे डर रहे हैं जैसे मैं कोई अछूत हूँ ! जब तक आप हथेली से न मसलेंगे, 'रूज' ठीक से न लगेगा !

पुरुष-स्वर—(काँपती आवाज़ में) अच्छा !.........

(थोड़ा और मौन । बाँसुरी की एक तान ।)

स्त्री-स्वर—आपका हाथ क्यों काँप रहा है ?

पुरुष-स्वर—नहीं तो !

स्त्री-स्वर—(अर्द्धनिद्रित)—ओह......

और दर्शक खुशी के मारे उछल पड़े ! मैनेजर ने ठोंक-ठोंक कर मेरी पीठ लाल कर दी !

सड़क समाप्त हो गयी । घर आ गया । मेरी पत्नी कहती है, रामायण का [illegible] है !

मार्ग-दर्शन

'कुट्टिचातन'

उस दिन लखनऊ जाना हुआ था। एक तो यों ही अजनबी आदमी, दूसरे घूमने का शौक, बार-बार भटक जाता और तब यों ही किसी राह चलते से पूछ बैठता : क्यों साहब, अमुक स्थान का रास्ता कौन सा है? फिर यह 'अमुक' स्थान अमीनाबाद हो, या चौक, या हजरतगंज, इमामबाड़े या कैसरबाग, पुरानी रेजीडेंसी या गोमती का पुल या छतरमंजिल...मतलब यह कि अगर मैंने अमीनाबाद का नाम ले ही दिया तो यह नहीं कि मुझे वहाँ जाना था, केवल यही कि जो दस पाँच नाम सुन रखे थे उनमें से एक होना चाहिए, और हो सके तो ऐसा भी कि जिधर मैं जा रहा हूँ उससे ठीक उलटी दिशा में तो न पड़े।

लेकिन जो बात मुझे कहनी है उसका सम्बन्ध मेरे पूछने से नहीं, मेरी जिज्ञासा के लक्ष्य के उत्तर देने से है। क्योंकि यह जानते हुए भी कि लोगों के मार्ग बताने के तरीके अलग-अलग होते हैं, 'लखनऊ' का तरीका कुछ निराला ही मालूम हुआ। यह तो सुन रखा था कि किसी बंगाली से मार्ग पूछो तो वह प्रश्न सुनने से पहले ही खीझे से स्वर में कह देगा 'जानिना!' और किसी बनारसी (या कि बन-रसिये) से पूछो तो वह ठोड़ी किसी तरफ को उठाकर मुख की पीक सँभालते हुए कह देगा 'इ का है सामने!' फिर आप 'सामने' का चाहे जो अर्थ लगाते रहिए और ठोड़ी किधर को उठी थी यह निश्चय करने के लिए चाहे जितने पैंतरे कर लीजिए। पंजाबियों का विशेष [illegible] का बना बनाया उत्तर प्रसिद्ध ही है कि 'जी, मैं तो इस शहर का नहीं हूँ' फिर चाहे प्रश्न आपने यही पूछा हो कि सूरज किधर को निकलता है। एक बार पटने में एक सज्जन से गोलघर का रास्ता पूछा था तो उन्होंने जिस वात्सल्य भरी टोन के साथ कहा था, 'गोलघर...जाँय क बाबू...?' उसे लक्ष्य करके मैं मुग्ध [illegible] कि पाटलिपुत्र में सवाल भी ऐसे पूछा जाता है [illegible]। पर फिर उन सज्जन के मुख से भी यथेष्ट कुछ

मुद्रा बनाकर बड़ी-बड़ी चकित आँखें मुझ पर जमा कर कहा था, 'वह तो हम नहीं बता सकते हैं', मानों सारा दोष कम्बख्त गोलघर का ही हो जो रोज़ न जाने किधर मटर गश्ती करने निकल जाता है।

लेकिन लखनऊ में नफ़ासत नहीं तो कुछ नहीं। जो बताने लगता, बड़े इतमीनान से और आवाज़ से माधुर्य भर कर—लेकिन यहाँ से आगे उसे वार्त्तालाप शैली में देना ही उचित होगा।

वह : तो आप...जायेंगे ? हाँ साहब, तो आप इधर सीधे तशरीफ़ ले जाइए वह जो दूसरा चौराहा दीखता है न !

मैं : हाँ

वह : 'वही जहाँ वह लाल साइनबोर्ड है, जिस पर लिखा है पं० रोशन-लाल दिव्यचक्षु राज-ज्योतिषी।

मैं (कुछ अनिश्चित, सा क्योंकि इतनी दूर से बोर्ड पढ़ना मेरे लिए असम्भव है) 'हाँ',

वह : (मेरे अनिश्चय को लक्ष्य करके) वहीं एक पानी का कल भी है जिसमें पाँच टोंटियाँ हैं, उसके पास से एक गली दाहिने को पड़ती है जिसमें थोड़ी दूर पर पीतल के बरतनों की एक दुकान दीखती है।

मैं : (इस सब ब्यौरे को स्मृति-पटल पर बैठाने की कोशिश करता हुआ) 'अच्छा'

वह : 'उधर मत जाइयेगा। सीधे आगे चलकर थोड़ी देर बाद एक ढलान शुरू हो जायगा, जो आगे रेल की पटरी के नीचे से गुज़रता है, दो मेहराबों वाला एक पुल है, जिसके नीचे से आने और जाने वाला ट्राफ़िक अलग-अलग जाता है, पुल से गुज़र कर सड़क धीरे-धीरे मोड़ लेती है और सिनेमाघर के पास"......

'मैं : कौन सा सिनेमा घर ?

वह : 'अजी वही निशात (या जो भी नाम रहा हो), लेकिन उधर मत जाइयेगा। बल्कि पुल तक भी आपको जाना नहीं होगा, उससे पहले ही एक सड़क बायें [illegible] जाती है, जिस पर थोड़ी दूर जाकर तांगों का अड्डा मिलता है। वहाँ से [illegible] मिलते हैं; उनसे पहला ज़रा सुनसान सा दीखता है।

मैं : (कुछ [illegible] और यह सोचता हुआ कि इतना सब तो मुझे याद नहीं रहेगा, आगे फिर पूछ लूँगा) 'अच्छा, मैं समझ गया !

वह : उधर मत जाइयेगा ! वो सुना रास्ता !

लेकिन इतने से आप लखनऊ की विशेषता अवश्य पहचान गये होंगे। अगर मैंने झल्ला कर यह नहीं कह दिया कि 'हाँ साहब, सब समझ गया, जो जो रास्ता आप बताते जायेंगे, वह वह छोड़ता हुआ मैं चला चलूंगा और इस प्रकार ठीक वहाँ पहुँच जाऊँगा, जहाँ कि मुझे पहुँचना नहीं है', तो इसीलिए कि भला कैसी लखनऊ वाले को ऐसी रूखी बात कैसे कही जा सकती है ? जो सुना है गुलाबजामुन भी छील कर तश्तरी में पेश करते हैं......

ऐसी स्थिति में लखनऊ में देखा क्या होगा यह तो आप सोच ही सकते हैं, हाँ जिन-जिन सड़कों पर नहीं गया, जिन-जिन मोड़ों पर नहीं मुड़ा, जिन जिन गलियों में नहीं घुसा, उनका ब्योरा आपको काफी विस्तार के साथ सुना सकता हूँ, इतने विस्तार से कि आप जरूर मुझे लखनऊ वाला मान लें। (यदि आप स्वयं ही लखनऊ वाले न हों)।

यों लखनऊ के मार्ग बता सकना पर्याप्त नहीं है। बल्कि लखनवी संस्कार का उससे पुष्टतर प्रमाण यह होगा कि दूसरे शहरों के मार्ग भी लखनवी पद्धति से बता सकें। कहावत है कि किसी के मित्र कौन हैं यह पता लगते ही बताया जा सकता है कि वह स्वयं कैसा है : हम तो समझते हैं कि मित्रों से परिचय की भी कोई जरूरत नहीं है। आप एक बार उससे उसके घर का रास्ता पूछ लीजिए इस प्रश्न के उत्तर में ही उसके सारे संस्कार मुखर हो उठेंगे। और उसके संस्कारों से आप उस सामाजिक परिवृत्त को भी पहचान सकेंगे जिससे वह आया है यानी उसकी संस्कृति से आपका परिचय हो जायगा। आप चाहें तो इसे एक नया सिद्धांत समझ सकते हैं। या 'मार्ग-निदर्शन' न कह कर 'मार्ग-दर्शन' कहने का कारण इसी नये सिद्धान्त का आग्रह है। यों जो लोग शीर्षक में पूरी का पूरी बात कह देने के समर्थक हैं वे इसे 'मार्ग-निदर्शन-दर्शन' भी कह सकते हैं और जो उसे साथ-साथ चमत्कारी रूप भी देना चाहते हैं वे उसे दिग्दर्शन-दर्शन भी कह सकते हैं।

संस्कृति देश काल मर्यादित होती है, यह तो सभी जानते हैं यहाँ तक कि विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर भी, यद्यपि कहीं आप उनकी बात समझ न लें इसलिए वे इसे ऐसे कहेंगे कि संस्कृति का एक आयाम दैशिक होता है, दूसरा कालिक। जिस प्रकार हम देश काल ज्ञान से किसी व्यक्ति के संस्कारों से हम उसके देश काल को भी पहचान सकते हैं। लखनवी, बनारसी, बिहारी, बंगाली पंजाबी की पहचान के सूक्ष्म संकेत तो हमने ऊपर दे ही दिये, अपने अनुसन्धान

को काल के आभास में बढ़ायें तो इस दर्शन की उपयोगिता और मौलिकता और भी स्पष्ट हो जायगी। कोई स्थान संकेत देते हुए कहता है :

पेड़ों के नीचे शुक शावकों के मुँह से गिरे हुए तृण धान्य हैं, पत्थर इंगुदी फलों के तोड़े जाने से तैलाक्त हो रहे हैं, आश्वस्त भाव से घूमते हुए मृग शब्द सुन कर भी नहीं चौंकते, इन संकेतों से यह समझ लेना कठिन नहीं है कि यह ऋषि उपवन का मार्ग है, और इससे यह निष्कर्ष निकालने के लिए कोई असाधारण बुद्धि नहीं चाहिए कि ऐसे मार्ग संकेत का काल आश्रम-सभ्यता का काल है।

कुल्याम्भोभिः पवन चपलैः शाखिनो धौतमूलाः
भिन्नो रागः किसलय रुचामाज्य धूमोद्गमेन

पवनालोडित कुल्या के जल से वृक्षों के मूल धुले हुए हैं, और यज्ञ धूम से उनके किसलयों का रंग बदल गया है : इन लक्षणों से हम केवल एक आश्रम की समीपता ही नहीं पहचानते, एक समूचे सांस्कृतिक वायुमंडल का स्पर्श हम पा लेते हैं, और इसीलिए अनन्तर जब हम पाते हैं कि आश्रम छोड़कर जाती हुई शकुन्तला अपनी सखियों को तो कण्व ऋषि को सौंप देती है, किन्तु 'अयसृत पाण्डुपत्र' रूपी आँसू बहाने वाली लता से गले मिलती है, क्योंकि वह माधवी लता तो 'लता-संगिनी' है, तो हमें आश्चर्य नहीं होता उस वातावरण में जीव और जीवेतर सभी का संवेदनशील होना ही सम्भाव्य है।

किन्तु साहित्य के मार्ग-संकेतों के उदाहरण के बिना भी काल सापेक्षता का सिद्धान्त प्रतिपादित हो सकता है। मार्ग-निर्देशन के तरीकों में पीढ़ी दर पीढ़ी कैसे परिवर्तन हुए होंगे, यह खोज का और कल्पना का बहुत अच्छा विषय हो सकता है। आपका गन्तव्य जो ग्राम है, उसका नाम जोगीमारा न भी हो तो भी अगर आप को सीतला की मढ़िया के आगे जो अमराई पड़ती है, उसके किनारे [illegible] पीपल के आगे से मुड़कर, डायन के टीले की ओट में बसे हुए [illegible] का मार्ग बताया जा रहा है, तो आप सहज ही मान ले सकते हैं कि यदि आप आज के किसी अन्धविश्वास विजड़ित समाज के प्रदेश में नहीं आ गये हैं तो निश्चय ही किसी ऐसे युग में जा पहुँचे हैं जिसमें विज्ञान का स्थान अन्धश्रद्धा और धर्म का स्थान भय अर्थात् अन्ध-विश्वास को प्राप्त है... और 'राजा का [illegible]' के पास ठाकुर फतेहसिंह की गढ़ी, 'सिंह पौर' और 'हाथी पौर' [illegible] नहीं [illegible]?

[illegible] और [illegible]। [illegible] से एक भाग से दूसरे

भाग में जाते हैं तो जिस राज मार्ग से होते हुए जाते हैं उसका नाम है गान्धी अरविन रोड। गान्धी मार्ग तो देश में अनेक हो गये, दिल्ली में अरविन स्टेडियम, अरविन कालेज आदि का नाम सुना है, पर गान्धी-अरविन रोड एक साथ केवल दो नामों को नहीं, हमारे देश की राजनैतिक प्रगति के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना को हमारे सामने ले आती है, दिल्ली का कारोनेशन स्कवायर तो बस्ती से दूर पड़ गया और कारोनेशनों की स्मृति भी देश के स्मृति पटल पर फीकी पड़ गयी पर स्मृतिनी मेमोरियल रोड अभी तक पुराने दर्द को जगाती हुई बनी है। और क्रान्ति-मार्ग, रिपब्लिक-ऐवेन्यू आदि नाम भी न केवल एक ऐतिहासिक युग को, वरन् एक ऐसे संक्रान्तिकाल को हमारे सामने लाते हैं जिसमें राजनैतिक संघर्ष ही संस्कृति का मुख्य प्रश्न था।

कभी कभी तो इन नामों से ऐसा जान पड़ता है कि नगर निर्माण की एक नयी पारिभाषिक शब्दावली बन गयी है। पारिभाषिक कोषों का तो युग ही है, इस लिए इस विषय का भी एक कोष बन जाय तो अचम्भा क्या, किन्तु जिस पारिभाषा की बात हम कह रहे हैं वह मोद्देश्य नहीं बनी, वह 'अन्यथा सिद्ध' की श्रेणी में ही आ सकती है। उदाहरणतः हर नगर या कस्बे की बीच की सड़क गान्धी मार्ग होती है। इस सड़क के बायीं ओर वाले पथ को कस्तूरबा पथ कहा जाता है, और दाहिनी ओर के पथ को जवाहर रोड। गान्धी मार्ग पर कोई पेड़ बड़ा दीख पड़े तो वह आजाद मैदान कहलाता है। जवाहर रोड को कोई सड़क तिरछी काटती हो तो पटेल पथ कहलाती है, और अगर सड़क के पद के योग्य न हो उसे पटेल गली भी कह सकते हैं, और अगर एकाधिक गली तिरछी पड़ती हो तो उन्हें क्रमशः पटेल गली नम्बर १, नम्बर २, नम्बर ३, कहा जा सकता है। जो गली आगे जाकर बन्द हो जाती हो जिसमें निकल कर जाने का एक मात्र मार्ग उलटे पाव लौटने का हो, तो उसे टंडन गली कहते हैं, दिल्ली, या इलाहाबाद या ऐसे प्रदेशों में जहाँ जीर्ण भारतीय संस्कृति का स्थान नवोत्थित हिन्दुस्तानी कल्चर ले रही है टंडन गलियों को कूचा टंडन भी कहा जाता है।

विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि ऐसी परिभाषा केवल भारतवर्ष में ही बनी है: इस दृष्टि से भी यह देश अनुलनीय ही है। महापुरुषों की स्मृति बनाये रखने के लिए और देशों में प्रयत्न न हुआ हो, ऐसा नहीं है, पर वहाँ ऐसे प्रयत्नों का समुचित साधारणीकरण नहीं हो पाया है। उदाहरण के लिए इंगलिस्तान में सिर्फ एक वाटरलू है, वह भी रेल का स्टेशन, केवल एक ड्यूक

ल्यार स्क्वेयर, अमरीका में केवल एक वाशिंगटन, रूस में एक लेनिनग्राड, एक स्तालिनग्राड किन्तु आप कल्पना भी कर सकते हैं कि भारत में केवल नयी दिल्ली को या वर्धा को गान्धी-नगर कह कर समझ लिया जाया कि उस नाम को और भौगोलिक बन्धनों में डालने की आवश्यकता नहीं है ? या कि राष्ट्रपति भवन से इंडिया गेट (अथवा राजघाट) तक के मार्ग को, जो आज किंग्सवे यानी राज पथ कहलाता है यद्यपि राजाओं के दिन, अब आशा करनी चाहिए, सदा के लिए लद गये, गान्धी-मार्ग कह दिया जाय और समझ लिया जाय कि भारत के इस सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति वाले मार्ग को यह नाम दे देने के बाद एक महान् नाम का उचित सम्मान इसी में है कि उसे हर नगर की हर सड़क पर चिपकाने का प्रयास छोड़ दिया जाय ? न ! गान्धी हमारे थे, सब के थे, इसे सामह प्रमाणित करने के लिए आवश्यक है कि हमारी गली, हमारे कूचे, हमारी पटरी के साथ उनका नाम बंधा हो । आप कहें कि भारत भी तो हमारा भारत है, तो साहब, ऐसे तो फिर दुनिया ही हमारी है, क्या इस मर्त्यलोक को ही गान्धी लोक कहने लग जायें ? तो इस लिए शहर शहर, गाँव गाँव में गान्धी ग्राम होंगे, प्रान्त प्रान्त में गान्धी नगर, हर कस्बे के मुहल्लों के नाम जवाहर नगर और कमला नगर हुआ करेंगे और हर एक में एक नेता जी पार्क या आजाद पार्क हुआ करेगा । हर शहर की हर म्युनिसिपैलिटी एक ही बात सोचे, अनेकता में एकता के प्राचीन भारतीय आदर्श का कितना सुन्दर निर्वाह है । और यह भी कौन कह सकता है कि [illegible] हरगुलाम की गली, जैसे गली से भी [illegible] थे, या कि काली कायस्थां और मुहल्ला [illegible] या रविदास स्क्वेयर के सामने टिक सकते हैं ?

किन्तु हम दिग्दर्शन-दर्शन की बात कर रहे थे, नामकरण की नहीं । कुछ बहक गये । लेकिन कोई बात नहीं, [illegible] हैं । [illegible] कि कूचा डंडन में घुस गये थे और [illegible] आयें । तो हम कह रहे थे कि हर [illegible] पार्टी रही होगी, और [illegible] आ रहे थे ; [illegible] निर्देशों का तो हम मार्गों के नाम से अनुमान लगा ही सकते हैं । और उस के अनन्तर आज ?

[illegible] पीढ़ी भर में कितना बड़ा परिवर्तन हो गया है, इसका प्रमाण देने के लिए, [illegible] आदतों की ओर देखिए, कोई दुनियादी

गालिब से लेकर आमखास मंगल तक के क्रिया कलाप की दुहाई दें, किसी को कदा-चित यह भी घ्यान आ जाय कि पिछले सात वर्षों में वन-महोत्सव करते हुए जो गण्यमान्य लोग शहरों में सब्ज बाग लगाने और दिखाने का भागीरथ प्रयास करते रहे, उनमें से वन में बस कर मंगल जीवन बिताने की एक को भी नहीं सूझी यद्यपि वन सभ्यता और ऋषियों के जीवन की चर्चा सभी ने की होगी। पर इस सब की कोई आवश्यकता नहीं है, आप एक चौराहे पर खड़े होकर किसी से मार्ग पूछिए, और उसी के उत्तर में वृत्तान्त बिजली सा कौंध जायगा।...

"वह जो बहुत बड़े-बड़े ये लाल बोर्ड हैं न, जिस पर छः छः फुट के अक्षरों में लिखा है 'खाज' 'खुजली' वहाँ से बायें को मुड़ जाइये। आगे एक मील चलकर आयेगा, फिर एक मोड़, फिर एक तिरस्ता, वहाँ एक खम्भे के सिरे पर बहुत बड़े बोर्ड पर लिखा है 'रोड बाक टू पीस डेथ' और मोटर से बाँये गिरते एक आदमी का चित्र है। उसी सड़क पर हो लीजिए : कोई पचास कदम आगे जाकर एक पक्की दीवार दीखेगी जिस पर चूने से लिखा है 'नामर्दी-नामर्दी-नामर्दी'। दीवार आगे चल कर बड़े अस्पताल की दीवार से मिल जाती है आप तुरन्त पहचान लेंगे क्योंकि वहाँ त्रिशूल पर उँगली का निशान बना हुआ है और लिखा हुआ है 'सायलेंस ज़ोन'। बस वहीं तक आपको जाना है उस निशान के सामने ही 'सिंहनाद' नाम की रेडियो की दुकान है।' बोर्ड आप न भी देखें तो उनके लाउड स्पीकरों का स्वर आप तीन फर्लांग से सुन सकते हैं रात बारह बजे तक, और सिंहनाद के पास वाली दुकान में आप के मित्र रहते हैं। उनका बोर्ड तो लगा है, पर दिन में दीखता नहीं, रात को उसके पीछे बत्ती जलती है तो पढ़ा जा सकता है। हाँ, उन्हीं की छत के ऊपर एक बोर्ड है जिसमें बिजली की बत्तियों से लिखा हुआ 'न्यूरोसिस'। बस आप सीधे न्यूरोसिस के बोर्ड के नीचे चले आइये।"

मेरे मार्ग-दर्शन से निस्सन्देह आप ऊब गये होंगे पर ऊब कर मुझे दोष न दीजिए। कुसूर मेरा नहीं, ज़माने का है। आप ज़माने पर हँस लीजिए और इस प्रकार परोक्ष मुझ पर भी। आपको हँसा सकूँ तो मेरे धन्य भाग!

और आप ऊबे न हों, या हँसना न चाहें तब? तब भी कोई चिन्ता नहीं, तब तो मेरे मार्ग-निर्देशन की उपयोगिता स्वतः सिद्ध है, आप मेरे बताये हुए मार्ग पर ही चल रहे हैं बस, सीधे न्यूरोसिस के बोर्ड के नीचे चले आइये यह आधुनिकता का दूसरा नाम है, और समकालीन-जीवी के लिए उपयुक्त बिल्ला। संसार के न्यूरोटिको एक हो जाओ! तुम्हारे न्यूरोसिस के सिवा और तुम्हारा कोई क्या छीन लेगा?

पर इस मानवीय संवेदना के प्रति लेखक का केवल बौद्धिक आग्रह नहीं है। वह इसी सम्बल को लेकर इस छोटे से उपन्यास में एक कितने ही पात्रों के जीवन में गहरे उतरा है उन स्थलों को उसने उभारा है जहाँ उनके अन्तर्मन और ऊपर के बाह्य आचार, उनके आदर्श और उनके यथार्थ, उनके स्वप्न और उनके वास्तविक जीवन में भयानक दरारें पड़ गई हैं। इस विश्लेषण में एक तीखापन है और एक बेचैनी भी, पर यह बेचैनी निराशा की नहीं है, बल्कि (जैसा 'नयी कविता' अंक २ में हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकारों में से एक ने उनका परिचय देते हुए कहा है :) "सर्वेश्वर की यह बेचैनी एक समर्थ व्यक्ति का झूठे आकारों के विरुद्ध विद्रोह है। जो दीखता है, जो भासता है वह मिथ्या, अयथार्थ नहीं है, फिर भी आकारों की सिकुड़नों में जो अभिप्राय घुट रहा है उसे हमें मुक्त करना है, यही कवि का आग्रह है। सिकुड़नों को पकड़ने का निर्ममत्व, रुद्ध अभिप्राय को मुक्त और पुष्ट करने की करुणा दोनों ही कवि में हैं।"

और इतने आकारों को एक साथ एकत्रित करने और उनके छोटे-छोटे गतिशील चित्र देकर उन्हें एक सार्थक कथा-सूत्र में पिरोते हुए घटनाओं के बाहरी विकास और चिन्तन तथा सपनों की आन्तरिक गति को समानान्तर ले चलने का शिल्प-कौशल भी इस छोटे से उपन्यास बड़े साहसपूर्वक निभाया गया है। एक छोटी सी सराय या यात्रिशाला—जिसके विभिन्न कमरों में तमाम यात्री ठहरे हैं। बीच के गलियारे में एक बूढ़ा पहरेदार टहलता है जिसके कानों में कमरे में होने वाली बातचीत पड़ती है, या घटित होने वाले दृश्य दीख जाते हैं। वह मानो उपन्यासकार की सर्वग्राही किन्तु मूल्यादर्शी की अन्वेषक आँख की भाँति कभी कभी भाग्य की बेंच पर बैठकर स्वप्न देखता है............और इस प्रकार सीनेरियो शिल्प के छोटे-छोटे फ्लैशबैक, प्रतीकात्मक प्रभाव और फैन्टेसी के धरातलों पर कथानक विकसित होता चलता है।

इसकी चित्रसज्जा विपिन अग्रवाल ने की है जिनकी सक्षम प्रतिभा का परिचय आरम्भ में ही श्री भगवतशरण उपाध्याय द्वारा दिया जा चुका है।

सीनेरियो-शिल्प में लिखा हुआ
नवीन कथा-प्रयोग

पाठ्यकाल—एक घंटा, दस मिनट

चित्रसज्जा—विपिन अग्रवाल

बूढ़ा पहरेदार

रात। अंधेरे में सोया हुआ ताल का जल। नाचती हुई रोशनी के पीले हरे फूल। खट...खट...। एक काली परछाईं का ताल के जल पर से रेंग जाना।

समीप स्थित पान्थशाला के बरामदे में पसरी हुई रोशनी, थके हुए कहकहे, उभरा हुआ शोरगुल। बूढ़े पहरेदार का बरामदे की बेन्च पर, फटे हुए बरानकोट की [illegible] जूतों को नीचे खिसका, सर घुटनों में छिपाकर ...

'पहरेदार आ गया' कोई भोंड़ी आवाज।

'बूढ़े ने बड़ी उम्र पाई है।' एक बेफिक्र हंसी।

लेकिन वह उसी तरह निस्पन्द, जड़वत घुटनों में मुंह छिपाए बैठा रहा।

यात्रिशाला

'थ्री क्रॉस' एक भारी आवाज़।

'फोर डायमण्ड्स' एक और भारी आवाज़।

'सुन तो लो मेरा अफ़साना'...गला दबाकर एक भोंडे खिंचाव के साथ गाना!

'लेकिन मोटी है! मोटी लड़कियाँ...!' एक क्षण की खामोशी, फिर दबी हुई खिलखिलाहट।

'रायल का...रायल का खाना सबसे अच्छा...!' एक तेज़ आवाज़।

'वहाँ भी बुकिंग होती है। अभी से सीट...समझे।' एक चुनौती की तेज़ आवाज़।

'...बिना पैसे का इश्क...धत तेरे की!' एक ज़ोर का क़हक़हा।

'हाँ...मैं कहता हूँ मत लो...हाँ...लेनिन का कथन है आखिर सर्वहारा...हा...हा...हा...!' एक सुरूर में खनकती हुई तेज़ आवाज़।

'क्यों भाईजान! अभी से सोने लग गए?' एक मीठी चुटकी।

'[illegible], देख बे, नाद ठीक है' फिर मुँह से उसी धुन में सीटी बजाने की आवाज़!

'बीयर भी कोई ड्रिंक है? वाह तीसमार खाँ...' एक नशे में लड़खड़ाती हुई बेहूदी हँसी।

बूढ़ा पहरेदार फिर बैठ गया। यात्रिशाला के बीच की गैलरी से जिसके दोनों ओर कमरे थे, वह एक चक्कर लगा आया था। उसके कानों में विभिन्न कमरों से आते हुए ये अधूरी बातों के टुकड़े, किसी तेज बवन्डर में पड़े पीपल के सूखे पत्तों की तरह चक्कर काट रहे थे और उसके मस्तिष्क की फटती रगों से, ये तरह तरह की आवाजें, शोरगुल, क़हकहे, समुद्र की लहरों की तरह टकराते जा रहे थे!

उसने लोहे की बेन्च की ठंडी छड़ पर अपना गर्म माथा टिका दिया!

सीढ़ियों पर

'[illegible]!' एक भारी पुरुषस्वर। अँधेरे और [illegible] पर खड़ी हुई एक [illegible] आकृति।

हरी रोशनी—पुरुष के प्यार की तरह। विभा ने गुलगुले तकिए में मुँह छिपा लिया और रज़ाई खींच ली।

हरी रोशनी—सौंदर्य को उभारने में समर्थ। राजेश ने मेज़ पर बैठ कर कोहनियों में मुँह छिपा लिया और एक टक उठे हुए काले घुँघराले केशों में दमकता हुआ विभा का रूप निरखने लगा।

'तुम अभी नहीं सोओगे? आज बहुत थके हो। आज काम मत करो।'

'तुम भी जाओ। बोलो मत। ऐसे ही पड़ी रहो। अपना रूप मुझे देखने दो। आज कहीं कुछ नया लग रहा है। थकान उतर रही है। बस दो एक घंटे में मैं सब ज़रूरी चिट्ठियों का जवाब लिख दूँगा फिर—

'जाओ!' विभा ने रज़ाई से मुख ढाँप लिया और राजेश ने मुस्कराकर कलम उठा ली।

थोड़ी देर की भारी ख़ामोशी के बाद।

'आख़िर यह प्यार क्या है जिसके नाम पर घर द्वार समाज सब कुछ छोड़कर तुम्हारे ये भाई साहब कहीं भटक रहे हैं, और हम सब उनके पीछे-पीछे परेशान हैं। विवाह के पहले हम तुम तो एक दूसरे को नहीं जानते थे, न एक दूसरे को प्यार ही करते थे। इससे हमारी जिन्दगी में क्या फ़रक़ आ गया। सच बताओ। क्या हम तुम एक दूसरे को प्यार नहीं करते? क्या किशोर के प्यार की सीमा हमारे तुम्हारे प्यार की सीमा से बड़ी है?' विभा ने कहा।

'तुम यह सब दर्शन सोच रही हो या सो रही हो।' राजेश ने स्वरों में बनावटी कठोरता लाते हुए कहा।

'मुझे नींद नहीं आती, जब तक तुम काम करोगे मैं नहीं सोऊँगी।'

विभा ने झल्लाकर रज़ाई ऊपर से फेंक दी और उठ कर बैठ गयी।

'लेकिन—'

'लेकिन वेकिन कुछ नहीं। तुम अपना काम करो। मैं बैठी हूँ।' विभा हथेलियों में सर थाम कर बैठ गयी।

'इसके अर्थ यह होते हैं मुझे तुम्हें सुलाकर फिर काम करना होगा। जैसी तुम्हारी इच्छा।'

'नहीं, मैं आज तुम्हें काम नहीं करने दूँगी।' विभा मुस्करायी।

राजेश ने रोशनी बुझा दी। बूढ़े पहरेदार ने देखा—दरवाज़े [illegible] में पसरी हुई रोशनी खो गयी।

हरी रोशनी—दूसरों की दया पर आश्रित। बूढ़े पहरेदार ने [illegible]

हाथ निकाल लिया और फिर घुटनों में सर छिपा कर बैठ गया। कमरा नं० २ की खिड़कियाँ खुली थीं और कुछ धीमी-धीमी फुसफुसाहट की आवाज़ आ रही थी।

कमरा नं० दो

'बड़ा ग़ज़ब हो गया रत्ना! अभी मैनेजर के रजिस्टर में दस्तख़त करते हुए मैंने देखा कि भैया भाभी भी यहीं हैं। सामने वाले कमरे में टिके हुए हैं। अब क्या करें?' किशोर ने घबराई हुई आवाज़ में कहा।

'रात आराम कर लो फिर सुबह उठ कर उससे पहले ही यदि तुम्हारी मरज़ी होगी तो हम लोग यहाँ से हट चलेंगे।' रत्ना ने उत्तर दिया।

'मेरी मरज़ी, गोया कि तुम्हारी मरज़ी कुछ है ही नहीं।' किशोर ने झुँझला कर कहा।

'मेरी मरज़ी तो अब तुम हो न।' रत्ना मुस्कुराई और प्यासी दृष्टि से उसकी ओर देखने लगी।

'मैं जानता हूँ कि तुम्हें मेरे साथ इस तरह दर-दर भटकना अच्छा नहीं लगता है। बड़े बाप की बेटी हो। इतना कष्ट उठा सकना तुम्हारे बूते के बाहर है। तो फिर जाओ, मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दो। मेरे लिए तुम क्यों मुसीबत उठाओगी।' किशोर हाथ में सर थाम कर मेज़ पर बैठ गया।

रत्ना ने रज़ाई मुँह पर खींच ली और सिसकने लगी। काफ़ी देर तक गहरी ख़ामोशी रही। किशोर सर थामे बैठा रहा और रत्ना रज़ाई में पड़ी सिसकती रही।

थोड़ी देर बाद......

'यही प्यार है तुम्हारा? इसी प्यार की तुम दुहाइयाँ देते थे। कहते थे प्यार मुसीबतों को आसान बना देता है। प्यार अमर है, प्यार अनन्त शान्ति है, जीवन और जगत् के हर भय से परे है। आज व्यंग करते हो। एक असहाय स्थिति में मुझे छोड़कर व्यंग करते हो। मैं धनी बाप की बेटी हूँ इसमें मेरा क्या दोष है? मैंने तुम्हारे साथ कौन सी मुसीबत नहीं उठाई है और कौन सी मुसीबत उठाने से भागती हूँ फिर भी तुम, फिर भी तुम......' रत्ना फूट-फूट कर रोने लगी।

किशोर अपराधी की भाँति रत्ना के सिरहाने बैठ गया और रुँधे हुए कंठ से बोला......

'मुझे माफ़ करो... । इतनी कठोर मत होओ । मैं घबरा उठा हूँ । जितने पैसे तुम घर से लेकर चली थीं सब खत्म हो गए । अब मैं क्या करूँ ? मेरी कुछ समझ में नहीं आता । मुझे कोई रास्ता नहीं दिखाई देता ।'

'वापस लौट चलो । मैं बाबूजी से माफ़ी माँग लूँगी । वे मुझे फ़ौरन माफ़ कर देंगे । वे मेरे बिना नहीं रह सकते । मेरी वजह से बहुत चिंतित होंगे ।' रतना ने कहा ।

'लेकिन मैं भैया भाभी को कैसे मुँह दिखाऊँगा ? नहीं, यह नहीं हो सकता ।'

'फिर जैसा तुम उचित समझो करो । डूब मरने को कहोगे डूब मरूँगी ।'

रत्ना ने निश्चिंत सी साँस लेकर करवट बदली और किशोर मेज़ पर हाथों में सर पकड़ बैठ गया ।

बूढ़े पहरेदार ने कान खड़े किए । कमरे में कोई आवाज़ नहीं थी गहरी निस्तब्धता छा गई थी । उसे एक हल्की झपकी आ गई ।

पहली झपकी

काले पंखों वाले एक छोटे स्वप्नदूत ने उसके सर पर हाथ फेरा ।

'तुम्हारा सर तो तप रहा है पहरेदार ?'

'तुम कौन हो ? इतनी रात गए यात्रिशाला में किस लिए आये हो ?' पहरेदार ने कड़क कर पूछा ।

'मैं रोज़ आता हूँ लेकिन तुमसे बिना मिले चला जाता था । आज तुम्हें बीमार देख कर तुम्हारे पास आ गया ।'

'तुम यहाँ रोज़ किसलिए आते हो ?

'प्यासी आत्माओं की शान्ति के लिए । जागता हुआ आदमी अपने से छल करता है, अपने को धोखा देता है । अपने को हज़ार बन्धनों में बाँधता है, हज़ारों नियमों में कसता है [illegible] नियमों और बन्धनों की दीवारें टूट जाती हैं, छल [illegible] हैं । फिर उसकी वास्तविक इच्छाओं की तृप्ति [illegible] जिसे जो कुछ नहीं मिलता [illegible] ।'

[illegible] बूढ़े पहरेदार ने कुछ धुँधली आकृतियों को देख कर पूछा ।

'तुम स्वयं ही देखो ।' काले पंखों वाले स्वप्न दूत ने उत्तर दिया ।

स्वप्न-दृश्य

'मोहन, मोहन' विभा अस्तव्यस्त सोने के कपड़ों में चुपचाप कमरे के बाहर निकल आई ।

'तुमने चाय तक नहीं पी, मुझे अकेली छोड़कर चुपचाप कहाँ चले जा रहे हो ।'

विभा ने रुंधे हुए गले से मोहन का हाथ पकड़ते हुए पूछा ।

'तुम्हारे पति-देवता के आने का समय हो गया । अब मुझे चलना ही चाहिए । तुम्हारी हरी भरी गृहस्थी में मैं आग नहीं लगाना चाहता ।'

मोहन ने उत्तर दिया और आगे बढ़ गया ।

विभा ने उसके गले में अपने बाहों की जयमाल डाल दी ।

'अब इसी तरह की बातें करना सीख गए हो । मैं तो तुमसे झूठ बोल रही थी । मैंने विवाह कहाँ किया ? देखो मेरे पैर में बिछिया, मेरे माँग में सेन्दूर कहीं कुछ तो नहीं है । मैं तो महज तुम्हारे प्यार की परीक्षा कर रही थी । तुम मजाक भी नहीं समझते, इतने भोले हो ?'

अचानक एक बड़ा सा चित्र दीवार पर खिंच गया ।

'यह तुम्हारा चित्र है । पसन्द है । यह वही......यह वही नीला दुपट्टा है जिससे उस दिन तुमने मेरी आँखें बाँध दी थीं । इसके ओढ़ने पर तुम सचमुच कितनी अच्छी लगती हो ।' मोहन ने कहा—

विभा ने मोहन का हाथ पकड़ा, किनारे पर लगी नाव में चढ़ गयी । नीला दुपट्टा उसके कंधों से फिसलकर उसके पैर में लिपट गया । वह गिरते गिरते बची मोहन ने उसे कसकर बाँहों में बाँध लिया और दुपट्टा नाव से सरक कर लहरों के साथ बह गया ।

नाव धारा के साथ बह निकली ।

'सुना था तुम्हारी शादी हो गयी है ।' मोहन ने पूछा—

'मैं शादी नहीं करूँगी, मुझे कहीं ले चलो मैं तुम्हारे साथ रहूँगी ।'

'मेरे साथ ? जिसके घर द्वार, माँ बाप भाई बहिन कहीं कोई नहीं है, जो अनाथ है । जो महज [illegible] और उलटे सीधे चित्र बनाकर जिन्दगी गुजारता है, [illegible] । मैं इस [illegible]

अपने साथ रख सकूँ। नहीं, तुम मेरे साथ सुख से नहीं रह सकोगी।' मोहन ने कहा। और नाव किनारे से लगा दी।

'उतर जाओ।'

'मैं नहीं उतरूँगी।'

'मैं कहता हूँ उतर जाओ।'

'मैं नहीं उतरूँगी। नहीं, हरगिज़ नहीं।'

'तो फिर मैं नदी में कूद पड़ूँगा...।'

हरी रोशनी

बूढ़े पहरेदार की झपकी अचानक ख़त्म हो गयी, आँख खुल गयी, सामने राजेश के कमरे में फिर हरी रोशनी जल गयी थी। दरवाज़े के शीशों से दिखायी दिया कि राजेश मेज़ पर बैठा कुछ लिख रहा है और विभा शान्त सो रही है।

पहरेदार उठ कर बरामदे में टहलने लगा। उसे रह रह कर चक्कर आ रहा था।

अचानक विभा चीख़ पड़ी—'बचाओ, बचाओ' की अस्पष्ट ध्वनि पहरेदार ने सुनी।

राजेश ने मेज़ पर से फ़ौरन उठकर उसका हाथ छाती पर से हटा दिया। गोया नींद में भी हृदय के धड़कनों का स्पर्श वर्जित है।

लेकिन विभा की आँख खुल गयी थी।

'क्या कोई सपना देखा था? बहुत बुरी तरह चिल्ला रही थी।' राजेश ने पूछा।

'हाँ,...नहीं...क्या सच चिल्ला रही थी मैं? तुम फिर काम करने में लग गए थे क्या? बीमार पड़ जाओगे? सोते क्यों नहीं हो, तुम भी मेरा कहना नहीं मानते—नहीं मानते न मेरा कहना? अच्छी बात है। मैं...मैं कभी कुछ नहीं कहूँगी।' विभा ने करवट बदल कर तकिए में मुँह छिपा लिया और सिसकने लगी।

'बहुत घबड़ा गयी हो। कैसा सपना देखा था तुमने? ओवलटीन बना दूँ।' राजेश ने चिन्तित होकर पूछा।

'नहीं, अभी [illegible] काम न करो। मैं इसीलिए कहती थी कि

मुनीम को ले चलो । दिन भर दौड़ोगे रात भर काम करोगे । मुझे तुम्हारा रुपया पैसा कुछ नहीं चाहिए । तुम्हारे मुख में ही मेरा सुख है । मैं कितनी दफे कहूँ । मेरी बात तुम भी नहीं समझते यदि तुम अपने ही मन की करना चाहते हो मुझे किसी नदी में बहा आओ । मुझे मार डालो । तुम भी मुझे मार डालो ।' और इतना कहकर विभा फिर सिसकियाँ भरने लगी ।

राजेश ने घबरा कर रोशनी बुझा दी ।

'तुम यह सब क्या ऊंट पटांग बक रही हो । सो भी जाओ, अब मैं काम नहीं करता । सोचा था कुछ जल्दी काम से निपटा लूँ । लेकिन तुम्हारे पागल के मारे कुछ हो तब न । क्या सपना देखा था ?'

'कुछ नहीं ।' विभा ने एक गहरी साँस भर कर उत्तर दिया और फिर नीरवता छा गयी ।

बूढ़ा पहरेदार

बूढ़े पहरेदार ने लाठी उठायी । फटा हुआ बरानकोट पहन लिया और एक चक्कर लगाने की हिम्मत करने लगा । उसके पैर काँपने लगे । वह लड़खड़ाया । लेकिन चलता गया । दुर्बलता को उसने चुनौती दे दी । ग्यारह का घंटा बजा । उसने माथे से पसीना पोंछ लिया । क्या सचमुच उसे बुखार है ! उसने सोचा ।

उसे एक गीत याद आया । लेकिन ज्योंही वह उसे गाने चला वह गीत भूल गया । उसे क्यों कुछ याद नहीं आ रहा है ? वह क्यों सब कुछ भूलता जा रहा है ? वह सोच नहीं पाया ।

यात्रिशाला

यात्रिशाला में अब शोर गुल कहकहे सब दब के पड़ गए थे । कहीं जैसे सब थक गए हों । सब नींद में हों । पहरेदार सीढ़ी से रुक रुक कर चलने लगा । अगल बगल के कमरों से फुसफुसाहट आ रही थी ।

'तुम क्या जीतते बेटा ! बेईमानी कर के जीत गए । भूल गए ! जब तुम्हें दो सौ प्वाइन्ट से हराया था आज बड़े खिलाड़ी बने हो ।'

'अरे हट ! मैंने खेलना सिखाया और मेरा ही गुरू बनने चला है।' दूसरी आवाज़ आयी।

पहरेदार और आगे रेंग गया।...

'क्यों बे ! पिछले जनम में तू तानसेन का बाप था क्या ? सोने भी देगा या अपना अफ़साना ही सुनाता रहेगा।

'अरे ! गाना गाने से कहीं दिल की लगी बुझती है। ज्यादा आग लगी हो तो सामने ताल है उसमें जा कर डूब मर। सारी आग बुझ जायगी।' एक आवाज़।

'हाँ, भाई, क्यों नहीं ऐसा कहोगे ? जले पर निमक सभी छिड़क लेते हैं। कभी दुख दर्द भी पूछा होता, अकेले अकेले न जाने कहाँ घूम आते हो मुझे सुराग़ भी नहीं लगने देते और ऊपर से ताना मारते हो।'

पहरेदार और आगे बढ़ गया—

'फिर क्या हुआ ? तेरी उस मौटी ने कुछ माल-मता भेजा ?' एक आवाज़।

'अरे सोने दे। उस बेचारी के पास क्या माल-मता धरा था।' दूसरी आवाज़।

'हाय हाय रे बेचारी ! खसम की सारी जायदाद क्या हुई। मैं तो सोचता था कि तुझे सबका मालिक बना देगी—' पहली आवाज़।

'वह मेरे लिए धरी थी। मरते ही यार दोस्तों ने उसे बुद्धू बनाकर सब बेंच खाया।'

पहरेदार कुछ और आगे बढ़ कर दीवार के सहारे टिक गया।

'पसन्द आया खाना ! नहीं न। कहीं से कुछ रुपये हाथ आएँ, तो एक रेस्त्रां खोला जाय फिर मैं दिखाऊँ उम्दा खाना क्या चीज़ होती है। रायल की धूम मचा रखी है। भूसा खिलाते हैं। या ग़लत कहता हूँ कहीं से कुछ रुपये उधार दिलवाओ। तुम्हारी तो बड़े बड़े लोगों से जान पहचान है... अरे सो गए क्या ! इतनी जल्दी। हाँ, भाई ऐसे मौक़े पर सो जाना ही बेहतर है।' एक खिसिआयी हुई आवाज़।

पहरेदार को [illegible] गया। वह कुछ और आगे बढ़ कर दूसरे कमरे के सामने की दीवार से टिक कर खड़ा हो गया।

'[illegible]' एक आवाज़।

'यही चार पांच सौ। लेकिन अगर हाथ आ जाती तो उसके पचास गुने वसूल हो जाते।' दूसरी आवाज़।

'कोशिश किए जाओ। हिम्मतें मरदां, मददे खुदा।' पहली आवाज़।

पहरेदार लड़खड़ाकर दो एक कदम और आगे चला और दूसरे कमरे के सम्मुख जमीन पर बैठ गया। कमरा नं० ११। पहरेदार को याद आया। उसके आँखों के सामने घूमती हुई एक लाश आ गयी। कोई अच्छे कपड़े पहने रात में आया था। उसी में टिका था और सुबह उसकी लाश छत की कड़ी में झूल रही थी। फिर लाश इसी गैलरी से निकाली गई थी। पुलिस ने उसे कितना हैरान किया था? उसकी समझ में अभी तक नहीं आया कि वह खुद ही मरा था या किसी ने उसे मार डाला था।

भीतर से आवाज़ आ रही थी। 'यह सब कुछ नहीं। तुम्हारा साम्यवाद बाह्य परिस्थितियों को बदल सकता है लेकिन जब तक आदमी भीतर से नहीं बदलेगा तब तक जिस स्वर्गिक जीवन की हम कल्पना करते हैं वह नहीं प्राप्त हो सकता।' एक वृद्ध आवाज़।

'भीतर से बदलने का नारा बोर्जुआ नारा है। इसकी सृष्टि पूंजीवादी सभ्यता ने इसलिए की है ताकि आदमी बाहर से आँख मींचे रहे और वे उसे आराम से चूस सकें। भारतवर्ष में इस नारे पर बड़ा ज़ोर है। इस पर बड़ी आस्था भी है, लेकिन सच मानो दोस्त इस नारे को लगाने वाले जनक्रान्ति के साथ विश्वासघात कर रहे हैं।'

बूढ़े पहरेदार ने यह सुनकर भी नहीं सुना। वह लाठी के सहारे उठा। अधिकांश कमरों की बत्तियाँ बुझ चुकी थीं। और वह घिसटता हुआ अपनी बैंच पर जाकर पुनः बैठ गया।

कमरा नं० दो

रतना ऊँघ गयी थी। किशोर ने चुपचाप थैले से बोतल निकाली और धीरे से आकाश झुका दरवाज़ा खोल बाहर निकल आया। कमरा नं० ७ का दरवाज़ा उसने धीरे से खटखटाया और आवाज़ दी—'बाहर आओ दिनेश। दिनेश कमरे से बाहर निकल आया।

रतना ने अचानक करवट बदली। और आँखें बन्द किए किए बड़बड़ायी—

'तुम परेशान क्यों होते हो ? कल कान के इयरिंग बेच देना । कुछ दिन के लिए काम चलेगा । इसी बीच शायद तुम्हारा काम कहीं लग जायगा । बेकार दुखी होने से फायदा क्या? दुखी होते हो और हमें भी दुखी करते हो । क्यों जी कल हम लोग फ़िल्म देखने चलेंगे न ! सुबह किसी लान्ड्री में जाकर मेरी उस हरे बार्डर वाली धोती में इस्तरी करा देना । नहीं तो मैं नहीं चलूँगी समझे । इतनी जल्दी सो गए क्या ? तुम्हें मेरा कुछ भी ख्याल नहीं है ।' रतना ने एक गहरी साँस ली ।

कमरे में घना अँधेरा था । बूढ़े पहरेदार ने बैंच पर बैठे-बैठे सुना । मुस्कराना चाहा पर मुस्करा नहीं सका ।

ताल पर

'हाँ, अब बताओ' दिनेश ने एक चैन की साँस लेते हुए कहा । ताल की सीढ़ियों पर दूर के विद्युत स्तम्भों का हलका प्रकाश था । समीप के पेड़ों की घनी परछाईं ताल के सतह पर फैली हुई थी । वे अँधेरे में सीढ़ियों पर बैठ गए ।

'तुम्हारे लिए एक बोतल खरीद लाया हूँ । यह लो ।' किशोर ने कहा और बोतल दिनेश के हाथ में थमा दिया ।

'तुम कभी नहीं पीते ।' दिनेश ने पूछा ।

'नहीं,'

'फिर क्या करोगे ? खैर तुम्हें तो प्रेम का नशा रहता होगा । तुम्हें पीने की क्या जरूरत ? तुम्हारी सरकार तो रही है क्या ?'

दिनेश ने कई घूँट गले के नीचे उतार लिए और बोला—

'क्यों जी, इस तरह कब तक ज़िन्दगी चलाओगे ? उससे शादी क्यों नहीं कर लेते । धनी बाप की अकेली लड़की है । लाख बुरा मानेगा फिर भी अपनी इज्जत आबरू का थोड़ा ख्याल करके दो एक लाख बाद में दे ही देगा ।'

दो एक घूँट पीने के बाद [illegible] बोला—

'वह क्या करती है ? जानते हो क्या, जो औरत मोहब्बत पर खेल सकती है, वह [illegible], और [illegible] की [illegible] खतरनाक होती है । क्योंकि वे [illegible] भी करती हैं ।'

'यह तुम नाजुक मोहब्बत की बात कर रहे होगे ?' किशोर ने जैसे कुछ चिढ़ कर कहा।

'जी नहीं, यह ऊँची से ऊँची मोहब्बत के लिए भी सच है। हर मोहब्बत का एक आधार होता है चाहे वह रूप हो चाहे यश, चाहे धन चाहे कुछ और भी। और उस आधार के हटते ही मोहब्बत खत्म हो जाती है। इसलिए मोहब्बत को विवाह के खूँटे से बाँधना बहुत जरूरी है।'

'तुम्हें बहुत जल्दी नशा होता है क्या ? मुझे तुम्हारे उपदेश की जरूरत नहीं है। मुझे कल सूरज निकलने के पहले ही यहाँ से हटना है। इसका सारा इन्तजाम तुम्हें करना होगा।' इतना कहकर किशोर वहाँ से चुपचाप उठा और चला गया।

हरी रोशनी

एक क्षण को निमा के कमरे की बिजली फिर जली और बुझ गई। इसी बीच राजेश ने मेज पर से सिगरेट उठाई और उसे सुलगा कर फिर लेट गया। पहरेदार का ध्यान अचानक इधर बँट गया।

'तुम बुरा मान गए—पता नहीं क्यों जी बहुत घबरा रहा है। इस समय मैं तुमसे एक क्षण भी दूर रहने की कल्पना नहीं कर सकती। मैं असहाय हूँ। तुम मुझे सहारा नहीं दोगे तो मैं कहाँ जाऊँगी। मुझे माफ कर दो। बोलो, बोलो, बुरा तो नहीं मान गए। मैं तुम्हें बहुत तंग करती हूँ न। तुम मुझे डाँटते क्यों नहीं, मुझ पर बिगड़ते क्यों नहीं। मेरी हर बात क्यों मान लेते हो ? मेरा क्यों इतना ख्याल रखते हो ? मैं इस लायक नहीं हूँ। ओफ़ ! तुम कितने अच्छे हो।' निमा ने भर्राई हुई आवाज में दर्द और स्नेह भर कर कहा।

'यह तुम कैसे समझ सकती हो कि तुम किस लायक हो ? यह मेरे समझने की चीज है। अगर अब भी तुम बोलना बन्द नहीं करोगी तो मुझे तुम्हारे होठों पर अपने होठों की मुहर कर देनी होगी।' राजेश का धीमा स्वर।

'नहीं—' एक ठुनक भरी आवाज।

फिर खामोशी : अथाह गहरी खामोशी।

किशोर ने कमरे में आकर बिजली जला दी। रत्ना ने करवट बदली और बोली—

'मुझे गहरी नींद आ रही है और तुम पता नहीं रह रह कर कहाँ चले जाते हो।'

'मैं जरा बाहर गया था, कल सुबह यहाँ से निकल चलने का प्रबन्ध करने।'

किशोर ने उत्तर दिया।

'मैं यह सब कुछ नहीं जानती। मुझे अकेले छोड़कर तुम मत जाओ, मेरा जी घबराता है।' रत्ना ने दुखी स्वर में कहा।

'इस तरह जी के घबराने से तो काम नहीं चलेगा। तुम्हारे जी के घबराने के हिसाब से अगर काम करूंगा तो सुबह भैय्या के हाथ पड़ जाऊंगा। और भैय्या के हाथ पड़ने से मेरी तो दुर्गत हो जायगी और तुम्हारा कुछ नहीं होगा। अपने बाबूजी की तुम लाडली बेटी हो। वह तुम्हें दुलार चुमकार कर फिर रख लेंगे। समाज में भी कोई उंगली उठाने की हिम्मत नहीं कर सकेगा। लोग यही समझ समझा लेंगे कि लड़की अपनी किसी सहेली से मिलने गई थी। पैसा समाज के नियमों पर भी हुकूमत करता है। लेकिन हम तो ग़रीब हैं—हमें तो—' किशोर ने कड़वी जबान में कहा।

'अपनी ग़रीबी का यह खयाल पहले क्यों नहीं आया था?'

'तब मैं यह खयाल करने को मजबूर नहीं था।'

'अब क्यों मजबूर हो गये, क्या मैंने कर दिया?'

'नहीं, तुमने नहीं परिस्थितियों ने।'

'इस एक सप्ताह में कितनी परिस्थितियाँ बदल गईं? बाहर से कहीं कुछ नहीं बदला, तुम्हारे मन के भीतर कुछ बदल गया है, बदला हुआ नजर आता है। अच्छा हुआ यह सब अभी से स्पष्ट नजर आ गया। अभी से अगर यह हाल है तो आगे क्या होगा? तुमने मुझे धोखा दिया है, बहुत धोखा दिया है।' रत्ना ने कुछ तेज आवाज में सिसक सिसक कर कहा।

'मैंने नहीं, तुम्हारी नजाकत, तुम्हारी अमीरी ने तुम्हें धोखा दिया है।'

किशोर ने दृढ़ आवाज में कहा।

'कौन सी नजाकत उठाने लायक तुमने मुझे रक्खा है? कौन सी अमीरी मैं तुम्हारे पास उठा रही हूँ? दर-दर की ठोकरें खाने के सिवा और क्या हाथ

लगा है। मेरे ? और मैंने तुमसे क्या पाया है ? तुम्हारा प्यार ? उसकी तो उसी क्षण मौत हो गई जिस क्षण मैंने तुम्हारे साथ घर से बाहर कदम रखा। मेरे लिए अब क्या बचा है—[illegible]—[illegible]—के लिए।' रचना ने सिसक-सिसक कर कहा और फूट-फूट कर रो पड़ी।

किशोर ने उठकर खिड़की के दरवाज़े बन्द कर दिये जैसे प्रेम के राज्य में सिसकियों को भी बाहर जाने का आदेश नहीं है।

आवाज़ धीमी हो गई और धीमी होती गई। थोड़ी देर बाद पहरेदार ने देखा कमरे की रोशनी बुझ गई।

और फिर उस अँधेरे में आगे की आवाज खो गई।

दूसरी झपकी

पहरेदार की नस-नस में दर्द होने लगा, जोड़-जोड़ उखड़ने लगे। वह बेन्च पर औंधा लेट गया। जलते हुए तवे पर पड़ती पानी की बूँद सा उसे सभी कुछ छनछनाकर उड़ता हुआ सा प्रतीत होने लगा। उसे एक हल्की सी झपकी आ गई।

'तुम आ गए ?' पहरेदार ने एक संतोष की सांस लेते हुए पूछा।

'क्यों, क्या तुम मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे ?' काले पंखों वाले स्वप्नदूत ने प्रश्न किया।

'हाँ। मैं जानना चाहता हूँ कि मेरे रग-रग में कौन सा जहर ऐंठ रहा है ? मैं क्यों कुछ याद नहीं कर पाता ? मैं क्यों सब कुछ भूलता जा रहा हूँ ?'

'तुम सत्य के निकट पहुँच रहे हो।'

'क्या तुम्हारे अनुसार सत्य के निकट पहुँचने का अर्थ जीवन से दूर होना है ?'

'हाँ, आज की जिन्दगी का आधार सत्य पर नहीं है।'

'जो जिन्दगी से दूर हटा ले जाय, उस सत्य को लेकर तुम क्या करोगे ?'

'नई जिन्दगी का निर्माण।'

'तुम भी दर्शन बखानते हो ?'

'हाँ, सपनों का भी एक दर्शन होता है जो नए सत्यों को जन्म देता है।'

'तुम कितने छोटे हो ?'

'लेकिन मेरे पास पंख हैं, [illegible]।'

पहरेदार ने देखा नंगी डालियों वाले तरु अचानक लहलहा उठे हैं, फूलों से लद गए हैं। सारी प्रकृति बदल गई है।

'यह सब क्या कर रहे हो तुम ?'

'तुम स्वयं ही देखो।'

स्वप्न-दर्शन

विभा का एक बड़ा सा चित्र कोई कंधों पर लाद कर ला रहा है।

'तुम थक गये होगे मोहन। लाओ मैं सहारा दे दूँ।' विभा ने सीढ़ियों पर पहुँचकर कहा।

'नहीं, अपनी कृति का बोझ ढोने में कोई नहीं थकता।'

'मेरा बोझ ढोने में तो थकान लगती थी। तभी उस दिन मुझे नाव में अकेली छोड़कर तुम धार में कूद गए थे।'

'इसलिए कि अपने साथ-साथ उसमें बोझ के थकान की भी कल्पना शामिल थी।' मोहन ने उत्तर दिया।

'मेरे पति बहुत नेक हैं, तुम उनसे मिलोगे ?'

'नेक ? नेक तो तुम भी हो, लेकिन नेक होने के अतिरिक्त भी कहीं कोई ऐसी चीज और होती है जिसे हम प्यार करते हैं। मैं तो नेक भी नहीं हूँ फिर मुझे तुम क्यों प्यार करती हो ?' मोहन ने पूछा—

'यह मैं नहीं जानती। लेकिन तुम्हें सामने देखकर मैं असहाय हो जाती हूँ। लगता है तुम्हीं वह एक क्षण हो जहाँ मेरी समस्त जिन्दगी का सूत्र बँधा हुआ है। जहाँ कुछ न पाकर भी मैं तृप्त रहती हूँ, जहाँ अशक्त होते हुए भी मैं सशक्त अनुभव करती हूँ जहाँ हर अभाव में भी भरी पूरी लगती हूँ। जहाँ मैं 'मैं' नहीं रह जाती। मैं कुछ और हो जाती हूँ मोहन, सच मानो तुम्हें देखकर मैं कुछ और हो जाती, मैं अपने को भीतर बाहर से पूर्णतया बदला हुआ पाती हूँ। मेरा सारा अतीत जैसे तत्काल मर जाता है और मैं नए सिरे से, जैसे नई जिन्दगी की साँस लेने लगती हूँ। मैं—मैं—कैसे समझाऊँ ?' विभा ने तन्मय होकर कहा।

'मैं [illegible] चलो, मेरे घर चलोगी। मैंने तुम्हारे कुछ और अच्छे चित्र बनाए हैं, चलो तुम्हें दिखाऊँ। तुम्हारे पति रुष्ट तो नहीं होंगे ?' मोहन ने पूछा।

'नहीं, और अगर वे कष्ट होते भी तो क्या तुम समझते हो मैं इस क्षण उनकी परवाह करती । मुझपर अब मेरा अपना अधिकार नहीं रहा मोहन । मैं अब अपने वश में कहाँ हूँ ।' विभा ने आत्मविभोर होकर कहा ।

'आओ', मोहन ने कहा ।

एक छोटी बैलगाड़ी पर विभा और मोहन बैठकर चल दिए । हरे भरे कछारों की टेढ़ी मेढ़ी लीकों पर होती हुई बैलगाड़ी चली जा रही है । बैलों की घंटियाँ, टुन टुन लगातार बज रही हैं । और बैलगाड़ी के लीक की जगह, पथ की, नरम मिट्टी में विभा के एक के बाद दूसरे चित्र बनते छूटते चले जा रहे हैं ।

अचानक बैलगाड़ी आँख से ओझल हो गई । मोहन और विभा फिर नहीं दिखाई दिए ।

पहरेदार की झपकी अचानक टूटने लगी पुतलियाँ हिलती हुई भी दिखाई दीं ।

'विभा मोहन के साथ कहाँ चली गई ?' पहरेदार ने पूछा

'जहाँ वह जाना चाहती थी लेकिन जा नहीं सकी थी', काले पंखों वाले स्वप्नदूत ने उत्तर दिया और गया ।

पहरेदार की आँख खुल गई ।

रात, खामोशी और पहरेदार

उस समय दूर कहीं बारह के घंटे की आवाज आई । रात नींद में झुक गई । विद्युत स्तंभों का प्रकाश हल्का पड़ गया । परछाइयाँ गहराकर लम्बी हो गईं ।

खामोशी—गहरी खामोशी छा गई । पेड़ों के पत्तों ने हिलना बन्द कर दिया । दिशाओं ने होंठ सी लिए ।

अब पहरेदार अकेला नहीं था । उसने अनुभव किया कोई उसके पास बहुत पास बैठा हुआ है । लेकिन वह उसे पहचानता ही नहीं, वह उसे देख नहीं पाता कोई उससे कुछ कह रहा है, अस्पष्ट स्वरों में कुछ कह रहा है, लेकिन वह सुन नहीं पा रहा है, समझ नहीं पा रहा है । उसे लगा जैसे वह होकर भी नहीं है, न होकर भी है ।

अपने अस्तित्व के आभास के लिए वह जोर से [illegible] रहा ! लेकिन कहीं से कोई प्रतिध्वनि नहीं लौटी । वह अपने [illegible] । तभी उसे ताल की ओर से कुछ आहट मालूम दी ।

दिनेश पूरी बोतल खाली करके ताल की सीढ़ियों पर पड़ा था। उसकी रतना की लटें खुल गयी थीं। उसकी जांघों पर सर धर वह निश्चिन्त सो रहा था। रतना चुपचाप कमरे से निकल कर उसके पास आ खड़ी हो गयी।

'उठो, सुनते हो मैं हूं रतना। उठो तो।'

'क्या है ?'

'रात को दो बजे कानपुर कोई एक्सप्रेस जाती है ?'

'रात को दो बजे जाने वाली गाड़ी या तो माल होती है या एक्सप्रेस होती है।'

'मैं यह नहीं पूछती। कोई गाड़ी जाती है या नहीं ?' रतना ने चिढ़कर कहा।

'क्या कीजिएगा यह जानकर ?'

'मैं अभी इसी वक्त यहाँ से जाना चाहती हूँ।'

'उसे बेचारे को अकेला छोड़कर...?'

'वह बेचारा है।' रतना ने तमक कर कहा।

'नहीं बिल्कुल नहीं सरकार। औरत की आँख से मोहब्बत का परदा हटते ही आदमी बेचारा कहाँ रह जाता है। आइए, खड़ी क्यों हैं, जरा करीब आकर बैठिए।' दिनेश ने कहा।

रतना पास जाकर बैठ गयी।

'दिनेश, तुम मुझे फौरन यहाँ से हटा ले चलो। जितने रुपये कहोगे मैं तुम्हें दे दूंगी।' रतना ने कहा।

'यह तो मैं जानता हूं। लेकिन रतना, कभी तुमने यह भी सोचा है कि मैं भी आदमी हूं। मेरी भूख रुपये से ही नहीं बुझ सकती।'

'जो आदमी है उसकी हर भूख [illegible] है लेकिन जो राक्षस है उसकी...?'

'हाँ, जो राक्षस है उसकी...यह तो मैं पहले से ही जानता था। एक न एक दिन किशोर को राक्षस होना ही था।'

'फिर क्या कहते हो ?'

'मेरे लिए सब ठीक है। आप हुक्म दीजिए।'

'अभी [illegible] है।'

'हाँ आने दीजिए। इस सच बोलने वाले आदमी के मुँह से बू आती है।'

'सामान ले आऊँ।'

'ऐसी मर्जी, ले आइए।'

रत्ना चुपचाप दबे पाँव कमरे की ओर चल दी। दिनेश ने बोतल जीभ पर उलट दी। शायद कोई बूँद बच रही हो।

तीसरी झपकी

पहरेदार ने गहरी थकावट महसूस की, जैसे उसके हाथ पैर की जान निकल गयी हो। उसे जैसे एक झपकी-सी आ गयी क्योंकि उसने देखा काले पंखों वाले स्वप्नदूत की आकृति स्पष्ट हो गयी।

'तुम इतनी देर से मेरे पास अदृश्य, अस्पष्ट, मौन क्यों बैठे हो?'

'ताकि जो दृश्य और स्पष्ट है उसकी कीमत आँक सको।'

'यह तमाम प्रकाश, शहनाइयों की आवाज़, यह सब क्या है। किसके लिए है?' पहरेदार ने प्रश्न किया।

'तुम स्वयं देखो।' उत्तर मिला।

स्वप्न-दर्शन

पीला लम्बा जुलूस। अपार जनसमुदाय। बाजे गाजे। चमकते हुए प्रकाश के हंडे। सजी हुयी सवारियाँ, फूलों से लदी हुई मोटरें। विवाह का जुलूस आ रहा था।

किशोर एक सजी हुई मोटर में दूल्हा बना बैठा था। शहनाइयाँ बज रही थीं। आगे जाने वाले फूल गुलाबजल और इत्र बरसा रहे थे। दिनेश शराब पिए, लड़खड़ाता हुआ आगे आगे चल रहा था। लोग उसे झुक झुक कर प्रणाम कर रहे थे।

बारात रुकी। आरती हुई। गीत हुए। भव्य विशाल भवन के भीतर जो नारियों से खचाखच भरा हुआ था, किशोर ने प्रवेश किया।

विवाह मण्डप में रत्ना वधू सी सजा कर लायी गयी है। झीने अवगुंठन में उसका मुस्कराता हुआ मुख मण्डल दमक रहा है। भाँवरों के पहले गाँठ

बांधी जा रही है। लेकिन गांठ बार-बार खुल जाती है। सब लोग हैरान हैं, परेशान हैं। किशोर हँस रहा है। फिर बिना गांठ बांधे हुए ही भांवरें पड़ती हैं। चारों ओर से गाती हुई स्त्रियों की भीड़ मण्डप के समीप बढ़ती चली आती है। विवाह मंत्रों का उच्चारण हो रहा है। भीड़ बढ़ती चली आ रही है। रत्ना एकाएक भीड़ में खो जाती है। किशोर अकेले भांवरें घूम रहा है।

'लाला जी मैं आ जाऊँ?' स्त्रियों की भीड़ में से चौड़े सुनहरे गोट की साड़ी पहने हुए विभा पूछती है।

'नहीं भाभी। मैं अकेला ही ठीक हूँ।'

फिर सब कुछ खो जाता है। विभा की गोद में किशोर का सिर है। किशोर सिसकियां भर रहा है और विभा समझा रही है।

'लाला जी तुम घबराते क्यों हो? मैं तो हूँ ही। मैं आप के भैया से कह दूंगी। उनका गुस्सा नाक पर है। वे आप से जरा सा भी कुछ नहीं कहेंगे' विभा कह रही है।

किशोर सड़क की पटरियों पर अकेला घूम रहा है। रत्ना एक नीली फ्यूक साड़ी में किसी के साथ बातें करती चली जाती है।

अचानक एक रिक्शे पर राजेश और विभा तमाम सामान लादे चले जा रहे हैं। किशोर चिल्लाता है। रिक्शे से विभा का हाथ पकड़ कर खींच लेता है। राजेश क्रोध में भरकर घूरता हुआ चला जाता है।

किशोर मजबूती से हाथ पकड़ लेता है। तेज आंधी चल रही है। आंख उठाकर देखता है तो वह रत्ना का हाथ पकड़े हुए है। विभा, रत्ना विभा, रत्ना। हाथ एक है, लेकिन रह रहकर आकृतियाँ बदलती जाती हैं। और किशोर चुपचाप चलता जा रहा है।

राजेश की एक भारी आवाज उसे बीच-बीच में सुनाई देती है। 'रत्ना से विवाह करने के अर्थ हैं, विभा से मेरा सम्बन्ध विच्छेद।'

अन्तराल

बूढ़े पहरेदार को खांसी आ गयी। उसकी लाठी ठनठनाने लगी।

'यह सब क्या है?' उसने पूछा।

'क्या तुम नहीं समझ पा रहे हो?'

'नहीं'

'कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें शिशु-भाव प्रबल रहता है। बिस्सा किशोर के शिशुत्व की तृप्ति है। उसे वह नहीं छोड़ सकता। और रतना से विवाह के अर्थ हैं बिस्सा को छोड़ना, उसे छोड़ना।'

पहरेदार की आंखें खुल गयीं। उसने देखा रतना चुपके से एक छोटी अटैची लिये कमरे से बाहर निकल रहा है। और किशोर गहरी नींद में सो रहा है! उसने चाहा कि वह कुछ बोले, उसे टोके, उसे बताये कि यह किशोर के साथ अन्याय है। पर जैसे उसकी जबान लड़खड़ाकर रह गयी।

ताल की सीढ़ियों पर

बूढ़े पहरेदार ने देखा, रतना चुपचाप ताल की सीढ़ियों पर पहुँच गयी।

'उठो, मैं आ गयी।'

'सचमुच, मैं तो समझता था आप मज़ाक कर रही हैं। प्रेम में कभी ऐसा भी हुआ है?' दिनेश ने निश्चिन्त सा उत्तर दिया।

'यह प्रेम नहीं था, थोथा प्रेम था, आकर्षण था।'

'आप बहुत समझदार हैं देवी जी। आप ने बहुत जल्दी समझ लिया।' दिनेश व्यंग किया।

'लेकिन मैं तुमसे यह सब जानना नहीं चाहती।' किंचित क्रोध में रतना ने कहा।

'लेकिन मैं तो यह सब जताना चाहता हूँ। मैंने आप से पहले ही कहा था देवी जी, कि मैं भी आदमी हूँ। मुझमें रुपये के अतिरिक्त भी और कोई भूख हो सकती है।' दिनेश ने व्यंग किया।

'मैं उसके लिये तैयार हूँ।' रतना ने दृढ़ स्वर में कहा।

'तो फिर बैठिए, सुनिये।'

'अपनी कीमत बोलो। तुम क्या क्या चाहते हो, उसकी सूची दो। लेकिन दर्शन मत बको। मुझे अभी इसी क्षण यहाँ निकल चलना है।' रतना ने क्रोध के आवेश में आकर कहा।

'जो नारीत्व की कीमत लगाने को तैयार है, उससे कीमत बोलना अपने को नीचे गिराना है। मैं अपने को नीचे नहीं गिराना चाहता देवी जी। मैं आप को महज इतना बताना चाहता हूँ कि प्रतिकार की भावना से भरी हुई औरत

शराब से भी ज्यादा गंदी होती है। मैं शराबी हूँ, मैं ही अधम हूँ, आपसे बोल कर, आपके निकट बैठकर, आप को स्पर्श कर, और अधिक गंदा, अधम नहीं होना चाहता। मुझ पर दया कीजिए और यहाँ से फौरन चले जाइये।' दिनेश ने उपेक्षा भरे स्वरों में कहा।

'तुम मेरा अपमान कर रहे हो!' रत्ना ने फुफकारते हुए कहा।

'जी हाँ, जो प्रेम का अपमान कर सकता है, जो नारीत्व का अपमान कर सकता है, जो एक सरल निश्छल हृदय का अपमान कर सकता है, उसका अपमान करना कोई गुनाह नहीं है देवी जी।' दिनेश ने व्यथित स्वरों में कहा।

'फिर मैं जा रही हूँ!' रत्ना ने जैसे चुनौती दी।

'कहाँ, किशोर के पास। जरूर जाइए, बेचारा सुबह आप को नहीं देखेगा तो पागल हो जायगा। गरीब को थोड़ी सी करुणा चाहिए। सो उसे मिल ही जायगी। कुछ दिन उसके साथ और भटक लीजिए। फिर तो आप का विवाह होगा। आप दोनों चैन और आराम से रहेंगे। उस दिन इस शराबी को एक बोतल देना मत भूल जाइयेगा। मेरी आप से इतनी ही प्रार्थना है। जाइये, कहीं वह जाग न जाय।'

रत्ना क्रोध में भरी, फुफकारती हुई, अटैची लिये वापस लौट गयी और उसने कमरे के भीतर जाकर दरवाजा बन्द कर दिया।

शराब की खाली बोतल

थोड़ी देर बाद दिनेश उठा। उसने शराब की खाली बोतल उठायी और उसे एकाएक उठाकर थोड़ी देर देखता रहा और [illegible] की ओर चल पड़ा।

यूकिलिप्टस के पेड़ के नीचे उसने वह बोतल रख दी और खुद पेड़ से टिक कर खड़ा हो गया।

'कोई है?' वह कुछ भारी आवाज में चिल्लाया। उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये हुए ही बोला—

'मैं कहता हूँ शराब की खाली बोतल में भी नशा होता है। उन खोखले और [illegible] से ज्यादा जिन्हें जिन्दगी में तुम [illegible] मानते हो, [illegible] [illegible]

है !' वह फुनफुनाया और उसने अपना सिर बेन्च की पीठ पर टिका दिया। उसे लगा जैसे उसके सर में गर्म पानी खौल रहा हो और उसका सारा शरीर अंगीठी सा सुलग रहा हो।

थोड़ी देर बाद उसे फिर झपकी सी आ गई। बेन्च पर बैठी हुई आकृतियाँ स्पष्ट होने लगी।

'तो यह सब तुम्हारे साथी हैं। बिना मेरी आज्ञा के तुमने सबको इस पर लाकर बिठा दिया है। आखिर मैं कहाँ जा रहा हूँ। यही हालत रहेगी तो मुझे बेन्च आप लोगों के लिए छोड़कर ज़मीन की शरण लेनी पड़ेगी।' पहरेदार ने कहा...

काले पंखों वाली आकृति मुस्कराई और आकृतियाँ स्पष्ट होने लगीं।

स्वप्न-दर्शन

वह बेन्च चाँदनी में रखी हुई है। चारों ओर गहरी खामोशी है। राजेश कमरे का दरवाज़ा खोलकर चुपचाप निकलता है। दुबली पतली अत्यन्त गोरे रंग की एक लड़की जो देखने से नहीं हिन्दुस्तानी लगती, उसका मुस्करा कर स्वागत करती है। वह किसी भाषा में अत्यन्त मधुर स्वरों में कुछ बोलती है, जिसके बाद उसकी आँखें हर्ष से चमक उठती हैं। वह तंग कसे हुए कपड़े पहने है जिसमें से उसका उभरा सुडौल शरीर दमक उठता है। राजेश उसे फूल सा गोद में उठा लेता है और बेन्च पर आ बैठता है। वे दोनों खूब हँसते हैं, गाते हैं, कहकहे लगाते हैं। बोतलें खोल खोल कर पीते हैं और इधर उधर दौड़ते फिरते हैं। पेड़ों की हरी-हरी डालियों पर उछल-उछल कर बैठ जाते हैं।

समुद्र नीले पर्दे सा टंगा है और वे उसके किनारे पर आँखें मींचे पड़े हैं। समुद्र की लहरें तट से टकराती हैं और [illegible] पर फुहार बरसा जाती हैं।

एक [illegible] किनारे पर [illegible] है। वे दोनों उसके 'डेक' पर आलिंगनबद्ध [illegible] हैं। [illegible] है। किनारा दूर [illegible] देखते हैं, [illegible] हँसते रहते हैं। [illegible]

'हिलना नहीं, अब मेरी बारी है, मैं तुम्हारा स्केच करूँगी।' और कागज़ पेन्सिल लेकर बैठ जाती है।

'लेकिन मेरे सर में खुजली मच रही है' मोहन चिल्लाता है

'[illegible] मत करो, मैं ऐसे ही 'कैच' करना चाहती हूँ।' विभा नाट्य करती है।

'मैं उकता हूँ ?'

'तुम हिले नहीं कि मैं चली जाऊँगी फिर तुम्हें कोई चीज़ नहीं दूँगी। विभा चुनौती देती है।

मोहन आँख बन्द करके, बन्दरों सा गाल फुलाकर बैठ जाता है।

+ + +

राजेश, उस गोरी लड़की को आलिंगन में कस लेता है।

+ + +

विभा, मोहन के जांघों पर सर धर आँख मींच कर लेट जाती है।

मोहन, कोई भूली हुई गीत की कड़ी गुनगुनाता है।

अन्तराल

अचानक गाड़ी खड़खड़ होती है। पहरेदार की झपकी टूटती है।

'घबड़ाओ मत, राजेश और विभा का पार्थिव शरीर कमरे में पास-पास सो रहा है।' कहता हुआ स्वप्न टूट जाता है।

पहरेदार की आँख खुलती है। यात्रिशाला में वैसी ही खामोशी है। राजेश और विभा का कमरा भीतर से बन्द है। हरी रोशनी बुझी हुई है। दोनों एक दूसरे से अत्यन्त दूर होते हुए भी एक दूसरे के पास-पास सो रहे हैं।

तार वाला

'सुनते नहीं जी, कब से चिल्ला रहा हूँ। तार है तार। कमरा नं० ग्यारह में कोई प्रकाश [illegible] रहते हैं?' तार वाला चिल्लाकर पूछता है।

'सुनो [illegible] अभी [illegible]!' पहरेदार लड़खड़ाती ज़बान से कहता है।

'फिर पहरेदारी क्या करते हो? [illegible] में [illegible] मरते

रहते हैं। खुदा ऐसों को भी रोजी सलामत रक्खे हुए है।' पानवाला बड़बड़ाता हुआ भीतर गैलरी में चला गया।

बूढ़े पहरेदार के जी में आया कि वह उसके इस कटु संभाषण का विरोध करे, लेकिन उसने अपने को इतना अशक्त पाया कि उसके मुख से कोई आवाज नहीं निकली।

वह चुप रह गया। और बैठा-बैठा ही बेन्च पर ढुलक गया।

कमरा नं० ग्यारह

प्रकाश गैलरी के उजाले में तार लिए हुए चिंतित मुद्रा में खड़ा है।

'कामरेड, कामरेड!' वह बहुत उदासी भरे स्वरों में पुकारता है।

'क्या हुआ? लेनिन की कोई बात सोते-सोते याद आ गई?' दूसरी आवाज आती है।

'नहीं भाई, तार आया है, पार्टी आफिस में किसी ने आग लगा दी।'

'तो क्या जन-क्रान्ति की सारी संभावनाएँ नष्ट हो गईं?'

'मजाक मत करो, मुझे फौरन जाना पड़ेगा! रुपयों का प्रबन्ध करना पड़ेगा, नहीं तो काम 'सफर' करेगा।'

'इसीलिए कहता था बेटा, इन्सान को भीतर से बदलने दो, बाहर के बदलने से कोई काम नहीं चलेगा। कल फिर आग लग गई तो!' दूसरी आवाज व्यंग भर कर कहती है।

'फिर पार्टी-आफिस बनेगा और यही छोटी मोटी आग विशाल जन क्रान्ति की अग्नि को जन्म देगी, कामरेड। लेनिन ने कहा है हमें हिम्मत नहीं हारनी चाहिये।' प्रकाश आवेश में उत्तर देता है।

'फिर मुझे सोते से क्यों जगाते हो। जाना चाहते हो जाओ।'

'मुझे कुछ रुपयों की जरूरत है। मेरे पास एक पाई नहीं है।' प्रकाश दुखी स्वरों में कहता है।

'तो, ऐसे में मैं क्या कर सकता हूँ? तुम स्वयं जानते हो मेरे ऊपर खुद का कितना कर्ज है, ऐसी स्थिति में मैं तुम्हारी पार्टी......'

'नहीं, इस समय पार्टी का नाम न लो, मैं व्यक्तिगत हैसियत से यह तुमसे माँग रहा हूँ और हमेशा की भाँति इसका भी कृतज्ञ रहूँगा।' प्रकाश ने विनय की।

'अच्छा, मुझे आज मालूम हुआ कि पार्टी के अतिरिक्त भी तुम्हारी कोई व्यक्तिगत हैसियत है !' दूसरी आवाज़ में हँसी !'

'इस समय मेरी असहाय स्थिति पर तुम मज़ाक कर सकते हो !' प्रकाश ने अत्यन्त दुःखी स्वरों में कहा ।

'अरे ! तुम दुःखी होते हो । अच्छा अच्छा बुरा मत मानो । मज़ाक मज़ाक ही में लेना चाहिए, चाहे सत्य ही क्यों न हो । सुनो, तुम दिनेश से कहो । वह तुम्हारी मदद कर देगा । क्या अभी कुछ देर पहले आया था । नींद में मुझे ऐसा लग रहा था जैसे कोई तुमसे बातें कर रहा है । ठीक है न, अब तुम मुझसे बातें मत करना, मुझे ज़रा सो लेने दो, सर में दर्द हो रहा है !' दूसरी आवाज़ ने उत्तर दिया ।

कमरा नं० सात

थोड़ी देर बाद प्रकाश कमरा नं० सात के दरवाज़े पर खड़ा था ।

'दिनेश, सो गए क्या ?' उसने आवाज़ दी ।

'सो भी गया हूँगा तो तुम्हारी आवाज़ पर जागना ही पड़ेगा । जन-नायक हो, आह्वान कोई अनसुना कर सकता है !' दिनेश ने एक गहरी साँस भरकर उत्तर दिया ।

'सुनो, मैं एक जरूरी......!' प्रकाश ने झिझकते हुए कहा, लेकिन दिनेश बात काटकर बोल पड़ा—

'मैं सब जानता हूँ । जानते हो रात में आवाज़ दूर तक जाती है और दीवारों के भी कान होते हैं, फिर हमारा तुम्हारा कमरा तो पास ही पास है । तार वालों के शोरगुल ने मुझे यूँ ही जगा दिया था !'

'फिर क्या करूँ ?'

'पार्टी आदिता के लिए भी, तुम्हें मरने की ज़रूरत होगी । मैं जो कहता हूँ उसे तुम मज़ाक तो नहीं समझोगे । [illegible] सरल उपाय है !' दिनेश ने सख्त आवाज़ में कहा !

'क्या ?' प्रकाश की आवाज़ काँपी !

'हत्या करोगे ?' दिनेश ने धीरे से लेकिन अत्यन्त दृढ़ आवाज़ में कहा ! 'तुम्हारी पार्टी [illegible] में बाधा तो नहीं पड़ते न ?' उसने फिर जोड़ा !

'लेकिन...' प्रकाश की आवाज़ धीमी हुई !

'लेकिन क्या ? जो एक सामूहिक हड़ताल करके मनोहारा राज्य स्थापित कर सकता है, वह मनोहारा पार्टी के एक दफ्तर के लिए एक व्यक्ति की हत्या नहीं कर सकता ! दुर्बल, कायर ! शीघ्र हाँ, या नहीं में जवाब दो, तो मैं आगे बात चलाऊँ ।'

प्रकाश कुछ देर सोचता रहा फिर दृढ़ आवाज़ में बोला—'...हाँ ।'

'तो ठीक है, लेकिन जल्दी नहीं करनी होगी । कमरा नं० दो में एक पूँजीपति की लड़की है रत्ना । वह मेरे एक दोस्त की प्रेमसी है । उसके साथ भागी हुई है । उसके पास हजार बारह सौ के जेवर होंगे ही और अगर ज्यादा चाहते हो तो अपनी लड़की की लालच में उसका बाप, कहीं भी कितने भी रुपए लेकर आ सकता है । समझे ! अब जाओ । चुपचाप सो रहो । मुझसे बिना पूछे कुछ मत करना !' दिनेश ने दृढ़ और संयत आवाज़ में कहा ।

प्रकाश की आँखें चमक उठीं । वह चुपचाप उठा और सर झुकाए चला गया । उसके चले जाने के बाद दिनेश मुस्कराया और सम्पूर्ण घृणा भरकर काँपते हुए होंठों से बुदबुदाया—'नीच' ।

बूढ़ा पहरेदार

खाँसी के कारण बूढ़ा पहरेदार फिर उठकर बैठ गया था । उसे धरती, आकाश सब तेज़ी से घूमते हुए लगे और वह जैसे निस्पन्द, शक्तिहीन, टूटी हुई शाख की तरह मँडरा रहा था । दूर तीन का घंटा बजा । रात के मुर्दे के सर पर जैसे किसी ने हथौड़े मारे हों । उसकी नस नस झनझना उठी । उसने चाहा कि वह चीखे पर उसके मुख से आवाज़ नहीं निकली । उसने चाहा कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति से एक बार, अन्तिम बार, इस भरी हुई भयावह रात के कान में चिल्ला सके 'जागते रहो' । वह चिल्लाया लेकिन निस्तब्ध की भाँति खामोशी की अँधेरी चट्टानों से टकराकर कोई प्रतिध्वनि नहीं लौटी । शायद उसके मुख से कोई आवाज़ नहीं निकली । क्या उसमें स्पन्दन नहीं है, जीवन नहीं है, क्या वह मर चुका है ? उसने सोचा, उसने मस्तिष्क पर जोर दिया । उसकी नसें तनतनाकर खिंचीं और टूट गईं । वह निश्चेष्ट हो गया । उसे लगा जैसे वह किसी बड़ी ऊँची पहाड़ी से ढकेल दिया गया हो और उसकी कमर उसकी हड्डियों को चूर कर निकल गई हो । उसका सम्पूर्ण शरीर पीड़ा से छिहर गया । कानों पर कोई

घंटे बजाने लगा और फिर अचानक सारी गति रुक गई, आवाजें निस्पन्द हो गईं । एक भयावह टूटी हुई, मुर्दा खामोशी कौंध गई ।

अंतिम झपकी

काले पंखों वाले स्वप्नदूत की आकृति फिर उसके सामने स्पष्ट हो गई । उसने उससे पूछा —

'मैं कहाँ हूँ ?'

'यात्रिशाला में, अपनी ड्यूटी पर' उत्तर मिला ।

'यह ड्यूटी क्या पेट भरने के ही लिए है ?' पहरेदार ने व्यथित होकर पूछा ।

'क्यों ?'

'आखिर मैं क्या कर सका ? किसे जगा सका ? दुनियाँ की गति में कौन परिवर्तन ला सका ? जिंदगी भर जागते रहो, जागते रहो, चिल्लाने के बाद भी, क्या यह यात्रिशाला वैसी ही नहीं है ?'

'है, और शायद रहेगी भी । तुमने अपने धर्म का पालन किया । तुम उसे बदल नहीं सके लेकिन यह निश्चय जानो कि तुम उसे लुटने से बचा सके हो । तुम्हें 'जागते रहो' चिल्लाते देखकर लुटेरे खुले आम घुसने की हिम्मत नहीं कर सके हैं । तुमने अपना कार्य पूरा किया है ।' काले पंखों वाले स्वप्नदूत ने उत्तर दिया ।

'इस बार मैं तुम्हें अपने पास से नहीं जाने दूँगा । देखो मेरे सोचने समझने की शक्ति भ्रष्ट होती जा रही है । तुम क्या, क्यों और किसके लिए यह सपनों का बाजार लाए हो, यह मुझे बताते चलो ।' पहरेदार ने कहा और उसने स्वप्नदूत का हाथ कसकर पकड़ लिया ।

स्वप्न-दर्शन

[illegible] बड़े-बड़े ताश के पत्ते उठाकर ला रहे हैं । वे सब थके, [illegible] और [illegible] हुए हैं । उनके माथे पर पसीने की बूँदें झलक रही हैं । वे [illegible] रहे हैं ।

'[illegible] क्या है ?'

'नौकरी के नियुक्ति-पत्र'

'किनके लिए हैं ?'

'उनके जो कोने के कमरे में आधी रात तक ताश खेलते और झगड़ते रहे हैं। वे सब बेकार हैं।'

स्वप्नदूत उत्तर देता है। दृश्य हल्का पड़ जाता है।

+ + +

अपनी उम्दा पोशाकें पहने 'पायल' के बैरे एक के बाद एक बैलरी में, खाने के विचित्र विचित्र सामान लिए, घुसते चले जा रहे हैं। प्लेटों कांटों और चम्मचों की खनक सुनाई देती है, ठहाके लग रहे हैं। भूखे ठहाके नहीं, तृप्ति और संतोष के ठहाके। बड़े-बड़े थालों में, खाने का सामान आता जा रहा है। बैरे भाग दौड़ कर रहे हैं।

'यह दावत कैसी है ?'

'कुछ लोग 'पायल' का नाम लेते लेते भूखे सो गए हैं।'

स्वप्नदूत उत्तर देता है, दृश्य हल्का पड़ जाता है।

+ + +

अस्तव्यस्त वसनों और शिथिल मुद्राओं में, नंगे अंगों वाली स्त्रियाँ, सुन्दर वस्त्रों में सजी हुई स्त्रियाँ, नंगी अधनंगी स्त्रियाँ, आलिंगन बद्ध, हंसती, गाती, प्यासे होंठ बढ़ाती स्त्रियां चारों ओर बिखरी हुई हैं, और सिमिट कर एक बड़ी लम्बी कतार में धर्मशाला के भीतर प्रवेश कर रही हैं, कमरों के दरवाजे खोल कर जा रही हैं, भीतर पलंगों पर सो रही हैं, प्रेमालाप कर रही हैं, नाच रही हैं, गा रही हैं।

'यह परियों का जमावड़ा क्यों है ?'

'क्योंकि आदमी ने अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण लगा रक्खा है। उसकी इन्द्रियां तृप्त नहीं हैं, वे सभी भूखे हैं, प्यासे हैं, यह उनकी मांग है।'

स्वप्नदूत उत्तर देता है, दृश्य हल्का पड़ जाता है।

+ + +

सिनेमा हाल, आपेरा हाउस, उड़ते हुए नोट, अच्छा उम्दा कपड़े, सिली सिलाई पोशाकें, अच्छी सवारियां, कीमती सुन्दर मोटरें, चमकीली भड़कीली औरतें, सब चली आ रही हैं। एक संतोष का शोरगुल, हंगामा है। प्रसन्नता का बाजार लगा हुआ है।

'यह सब किनके लिए है ?'

'उन सब के लिए जिन्हें यह नहीं मिल पाता है।'

'सब बहुत खुश हैं, प्रसन्नता का ज्वार उमड़ रहा है। ऐसा वास्तविक जीवन में उन्हें क्यों नहीं मिलता? इसका जिम्मेदार कौन है?'

'आदमी ही। क्योंकि उसने स्वार्थ के, नियमों और बन्धनों के घेरे बना रक्खे हैं।'

स्वप्नदूत उत्तर देता है। दृश्य हल्का पड़ जाता है;

\+ + +

रतना ट्रेन पर बैठी जा रही है। अचानक दिनेश पटरियों पर खड़ा दिखाई देता है। वह ट्रेन को दोनों हाथों से रोककर ढकेलता है, ट्रेन पीछे चलने लगती है। रतना चिल्लाती है, डरती है, आगे चलने के लिए जोर लगाती है। अचानक उसके पिता गार्ड की शक्ल में दिखाई देते हैं। वे सीटी बजाते हैं। ट्रेन हरहरा कर चल पड़ती है। दिनेश का अंग अंग कट जाता है। एक बहुत बड़ी खाली शराब की बोतल में उसके कटे हुए अंग डब्बे के कोने में रक्खे हुए हैं। रतना देख रही है, मुस्करा रही है, ट्रेन भागती हुई चली जा रही है।

वह घर पहुँचती है। पिता उसे गले से लगा लेता है। किशोर जेलखाने में बन्द खड़ा दिखाई देता है। उसके कपड़े कैदियों के हैं, उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है। वह कातर दृष्टि से रतना की ओर देखता है।

'अब बोलो? मैं चाहूँ तो तुम्हें छुड़ा सकती हूँ?' रतना गर्व से उसकी ओर देखती है।

किशोर सर झुका लेता है। उसकी आँखों से आँसू निकलते हैं।

'मेरे रहते हुए तुम रोते हो', रतना एक झटके से ताला तोड़ देती है। और किशोर से लिपट जाती है। रतना के पिता आश्चर्य और कोप-मिश्रित दृष्टि से देखते हैं।

'मैं किशोर के बिना नहीं रह सकती बाबूजी!' रतना किशोर की छाती से लिपटी हुई रो [illegible]!

अचानक दृश्य बदल जाता है। बाबूजी [illegible] हुए घर भर में दौड़ रहे हैं। बाजे बज रहे हैं। बाहर बहुत बड़ी [illegible] है। हजारों मोटरें खड़ी हैं।

रतना उंगली से मामूली सोने की अंगूठी उतार कर किशोर के ऊपर [illegible] है और [illegible] है —

'मैं आज के दिन यह मामूली अंगूठी नहीं लेती, मुझे हीरे की अंगूठी दो !' रत्ना चिल्लाती है ।

किशोर जेब से हीरे की अंगूठी निकाल कर पहना देता है । वह उम्दा कीमती पोशाक पहने हुए है । रत्ना उसके गले से लिपट जाती है । किशोर उसे अपनी बाहों में कस लेता है ।

'यह क्या है ? रत्ना किशोर को प्यार करती है ?'

'हाँ लेकिन अभी उसके संस्कार बदले नहीं हैं । वह जिस वर्ग की है उसकी यह विशेषता है । उसके ये प्रभुत्व और ऐश्वर्य-लिप्सा के संस्कार देर से बदलेंगे ।'

स्वप्नदूत उत्तर देता है । दृश्य हल्का पड़ जाता है ।

× × ×

प्रकाश, एक एकांत निर्झर के किनारे बैठा हुक्के का ताज़ा कश पी रहा है । निर्झर के नीले जल में लाल फूल बनते हैं, नाचते हैं और तेज़ी से बहते हुए आगे निकल जाते हैं । प्रकाश उनकी शोभा को निरखता है और आत्म-विभोर होता है । दूर कोई अस्पष्ट नारी आकृति जल पर झुकी हुई उन लाल सितारों को उठाती जाती है और एक सफेद कोट पर टाँकती जाती है । फिर बिगुल बजता है, बैण्ड बजता है, मार्च करती हुई फौजें उसे सलामी देती हैं और वह वहाँ लाल सितारे टँका सफेद कोट पहने अकड़ा हुआ तनकर खड़ा है । लाल झंडे चारों ओर लहरा रहे हैं । 'क्रान्ति जिन्दाबाद !' के नारे लग रहे हैं ।

एक खुली हुई सजी जीप पर वह बैठता है और फौज की सलामी लेता हुआ एक आलीशान बंगले की ओर सरसराता हुआ चला जाता है ।

अचानक उसकी जीप उसी निर्झर के किनारे ऊबड़-खाबड़ पत्थरों पर चलती हुई दिखाई देती है । वह चौंकता है । जीप रुक जाती है । सामने रत्ना का रक्तस्नात शव पड़ा है । वह उतरकर गौर से देखता है । शव के होंठ हिल रहे हैं । वह भयभीत हो उठता है । वह फिर दूसरा छुरा मारता है, होंठ और तेज़ी से हिलने लगते हैं । वह तड़पकर छुरा मारता जाता है और जितना ही वह छुरा मारता जाता है, होंठ उतनी ही शक्ति से हिलते जाते हैं ।

अचानक, दूर पहाड़ी पर खड़ा किशोर कहकहा मार कर हँसता है और चिल्लाता है—

'याद रक्खो, आवाज़ खत्म कर सकते हो लेकिन ये हिलते हुए होंठ

नहीं रोक सकते और एक दिन यही हिलते हुए होंठ दूसरी क्रान्ति को जन्म देंगे जिसका आधार करुणा पर, संवेदना पर और मानवता पर होगा। तुम्हारा युग शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा।'

प्रकाश कांप उठता है उसकी आँखों के सामने से सारे दृश्य खो जाते हैं।

'यह कौन है?'

'प्रगति और नई जिन्दगी के ठेकेदार।'

'यह इतने घृणित क्यों हैं?'

'क्योंकि इनमें इन्सानियत नहीं है।'

स्वप्नदूत ने उत्तर दिया और दृश्य हल्का हो गया।

× × ×

एक खुली बेन्च पर एक ओर विभा और मोहन बैठे हैं दूसरी ओर राजेश और वह गोरी लड़की। राजेश और विभा एक दूसरे की ओर देखते हैं लेकिन जैसे पहचानते नहीं।

'इनका वास्तविक वैवाहिक जीवन कितना स्नेह और शांति से पूर्ण है?'

'इसलिए कि ये जिन्दगी के साथ समझौता कर पाने में समर्थ हैं।'

स्वप्न दूत उत्तर देता है और दृश्य हल्का हो जाता है।

× × ×

अन्तराल

पहरेदार की आँख एक क्षण को खुली। कहीं कुछ नहीं! यात्रिशाला में पूर्ववत् खामोशी थी। सारे कमरे बन्द थे। विभा, राजेश, रत्ना, किशोर, प्रकाश, सभी अपने-अपने कमरों में चुपचाप सो रहे थे! यद्यपि उन सब की प्यासी आत्माएँ कहीं और थीं। उसने पूरी शक्ति से आँखें खोलनी चाहीं, पर जैसे उनमें खुली रहने की शक्ति नहीं। वह झंपती चलती जा रही हैं। उसे लगा जैसे उसकी निगाह [illegible] रही है, पूरी यात्रिशाला [illegible] जा रही है। कमरे के [illegible] दिखाई देने लग गये हैं। फिर सब कुछ धुँधला होकर खो गया। वह अंतिम बार पूरी शक्ति भर चिल्लाया, 'जागते रहो!' लेकिन [illegible] की प्रतिध्वनि उसके कानों में नहीं आई। वह जैसे चेतनाशून्य हो गया।

सुबह की आवाज़

चिड़ियाँ चहकीं। दूर मुर्गा बोला। लगा। चाय का घंटा बजा। अँधेरा सिमटने लगा। ताल का सोया हुआ जल जाग उठा। काली अँधेरी परछाईं, ताल की सतह पर रेंगती हुई फिर लौट गई।

'बाह्य परिस्थितियों के ही बदलने से काम नहीं चलेगा, आदमी को भीतर से भी बदलना पड़ेगा।' एक भारी आवाज।

'नया सवेरा आ रहा है, नई रोशनी आयेगी, नई ज़िन्दगी आयेगी, उसे कोई रोक नहीं सकता।' दूसरी एक परिचित आवाज़।

'निश्चय ही! लेकिन उसका आधार इन्सानियत पर होगा, करुणा और संवेदना पर होगा।'

इसके बाद हर आवाज अस्पष्ट होकर खो गई। सब कुछ स्पन्दनहीन हो गया। काले पंखोंवाला स्वप्नदूत उसके सिरहाने बैठ गया।

बूढ़ा पहरेदार

'काफी दिनों तक धर्मशाला की सेवा की इसने।' एक मोटी आवाज!

'बुड्ढे ने काफी उम्र पाई थी, आज चल बसा।' एक भारी आवाज।

'रात भर खाँसता रहा।' एक तेज़ आवाज।

'अच्छी पहरेदारी की। इतना कराहा कि नींद हराम कर दी।' एक भर्राई हुई आवाज।

'शायद साँस चल रही है।' एक करुणा भरी आवाज़।

'अब क्या बचेगा।' एक दर्द भरी आवाज़।

'तररा, तररा, तररा।' किसी का सीटी बजाते गुनगुनाते निकल जाना।

'बस, खत्म? मौत भी—।' वाक्य जैसे पूरा नहीं किया गया।

उपसंहार

बूढ़े पहरेदार ने देखा—उसकी लाश बेन्च के पास ज़मीन पर पड़ी है। पास बैठ एक कुत्ता मोटी, काली, रूखी रोटियाँ चबा रहा है। नया सवेरा उग रहा है। किशोर और रत्ना गाड़ी पर बैठ चले गये हैं। विभा और राजेश जाग

उठे हैं। कमरे में हरी रोशनी अब भी जल रही है। ताल की सीढ़ियों पर घूमता हुआ दिनेश गुनगुना रहा है...

फूलों की क्यारियों में
रात, शराब की खाली बोतल दफन कर गयी है
ताकि नया सवेरा उसे न देख सके।

आशय
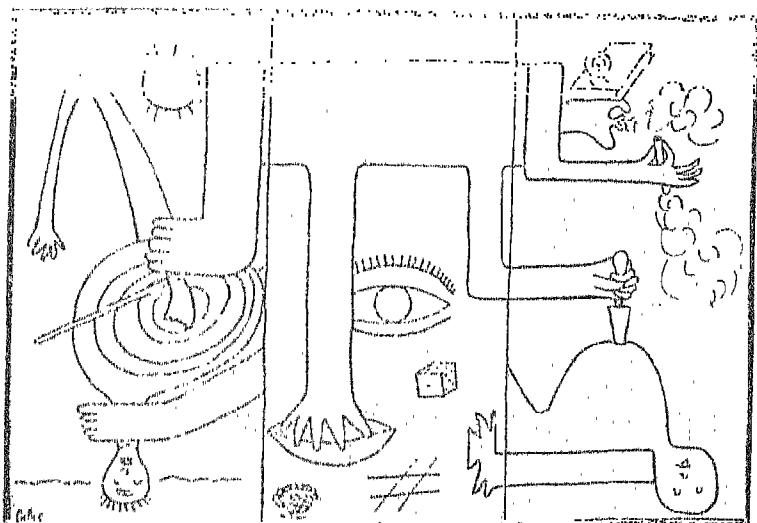
कुँवरनारायण

आमाशय,

यौनाशय,

गर्भाशय...

जिसकी ज़िन्दगी का यही आशय,

यही इतना भोग्य...

कितना सुखी है वह, भाग्य उसका

ईर्ष्या के योग्य !

हाय पर मेरे कलपते प्राण,

तुमको मिला कैसी चेतना का विषम जीवन-मान

जिसकी इन्द्रियों से परे जाग्रत हैं अनेकों भूख !

तेरपाई गुम्फा का लामा

प्रभाकर माचवे

मिले मुझे लामा रे। शिशु सा हँसा। हमें दी लेमनजूस। कहा-'सुस्वागत!'
बोले मेरे साथी दुभाषिये—'रे गो (या चित्रकार) हैं!' स्तिमित, भय-चकित।
'रे गो?' फिर वह हँसा। मूर्ति सा बैठा। छवि आँकी जो विस्मित;
देखा, बोला—"एक चित्र बुद्ध का बना देंगे?" फिर स्मित!
सहर्ष पूजागृह में हमको लिवा गया। थे मंत्र-पाठरत
कई भिक्षुजन; प्रसाद, घन्टे, दीये औ' कंजूर सुरक्षित
खोट रहे तब देखा बाहर युवक भिक्खु जिज्ञासु भाव से
चीनी भाषा में पढ़ता था कोई रूसी चित्र-पत्रिका—
'अभी नहीं टकराया साहिल इस भोली बह रही नाव से
भरा रहेगा यह शिशुवत स्मित, लेमनजूस व चित्र-मातृका',
मैंने मन में कहा, 'तुम्हारी 'मुक्ति' अभी होनी है बाक़ी
तार कँटीले, बम, टैंकों के काले धब्बे खाकी खाकी—
जब यह माला छीन तुम्हारी, देंगे वे बन्दूक नुकीली
(शांति, सुरक्षा!) चीवर के बदले में वर्दी लाल व पीली!'

जगन्नाथ का रथ

शंभूनाथ सिंह

मृत्यु के तट पर
ध्वजा गड़ जाय जीवन की!
[illegible] सब का [illegible]
[illegible] बिन्दु-स्पन्दन की!
[illegible] हो कर विवश
इस मुक्ति के पथ में!
[illegible] जगन्नाथ चलें [illegible]
[illegible] क्रांतिकारी महाजन-रथ में!

फणीश्वरनाथ 'रेणु'
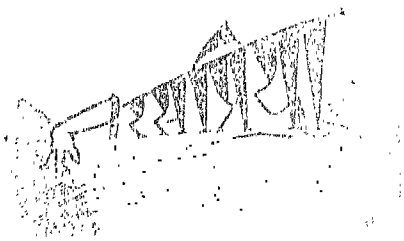
धूल में पड़े कीमती पत्थर को देखकर जौहरी की आँखों में एक नई झलक झिलमिला गई—'अपरूप-रूप !'

चरवाहा मोहना 'छौंड़ा'[1] को देखते ही पंचकौड़ी मिरदंगिया के मुँह से निकल पड़ा—'अपरूप-रूप !'

...खेतों, मैदानों, बाग-बगीचों और गाय बैलों के बीच चरवाहा मोहना की सुन्दरता !

मिरदंगिया की क्षीणज्योति आँखें सजल हो गईं।

मोहना ने मुस्कुराकर पूछा—'तुम्हारी उँगली तो 'रसपिरिया' बजाते... टेढ़ी हुई है ? है न ?'

'ऐं !'—बूढ़े मिरदंगिया ने चौंकते हुए कहा—'रसपिरिया ?...हाँ...; नहीं। तुमने कैसे...तुमने कहाँ सुना बे...!'

...बेटा कहते-कहते वह रुक गया।...परमानपुर में उस बार एक ब्राह्मण के लड़के को उसने प्यार से 'बेटा' कह दिया था। सारे गाँव के लड़कों ने उसे घेर कर, 'मारपीट' की तैयारी की थी—'बहरदार होकर ब्राह्मण के बच्चे को 'बेटा' कहेगा ? मारो साले बुड्ढे को घेर कर !...मृदंग फोड़ दो।'

मिरदंगिया ने हँसकर कहा था—'अच्छा, इस बार माफ कर दो सरकार! अब से आप लोगों को 'बाप' ही कहूँगा।'

बच्चे खुश हो गये थे। एक दो ढाई साल के नंगे बालक की ठुड्डी पकड़ कर वह बोला था—'क्यों, ठीक है न बाप जी ?'

बच्चे ठठाकर हँस पड़े थे !

लेकिन, इस घटना के बाद फिर कभी उसने किसी बच्चे को 'बेटा' कहने की हिम्मत नहीं की थी। मोहना को देखकर, बार बार 'बेटा' कहने की इच्छा होती है।

---

[1] लड़का।

'रसपिरिया की बात किसने बताई तुमसे ?....बोलो, बेटा !'

दस बारह साल का मोहना भी जानता है, पँचकौड़ी 'अधपगला' है !... कौन इससे पार पाये ! उसने दूर मैदान में चरते हुये इसके बैलों की ओर देखा।

मिरदंगिया, कमलपूर के बाबू लोगों के यहाँ जा रहा था। कमलपूर के नन्दू बाबू के 'घराने' में अब भी मिरदंगिया को चार मीठी बातें सुनने को मिल जाती हैं। एक दो जून भोजन तो बँधा हुआ है ही; कभी-कभी 'रस-चरचा' भी यहीं आकर सुनता है वह। दो साल के बाद वह इस इलाके में आया है दुनिया बहुत जल्दी-जल्दी बदल रही है।...आज सुबह शोभा मिसर के छोटे लड़के ने तो साफ-साफ कह दिया—'तुम जी रहे हो या 'थेथरई' कर रहे हो मिरदंगिया ?'

हाँ, यह जीना भी कोई जीना है ? निर्लज्जता है और 'थेथरई' की भी सीमा होती है।...पंद्रह साल से वह गले में मृदंग लटका कर गाँव-गाँव में घूमता है, भीख माँगता है।...दाहिने हाथ की टेढ़ी उँगली 'मृदंग' पर बैठती ही नहीं है, मृदंग क्या बजायेगा। अब तो, 'धा तिंग, धा तिंग' भी बड़ी मुश्किल से बजाता है।...अतिरिक्त गाँजा-भाँग सेवन से गले की आवाज विकृत हो गई है। किंतु, मृदंग बजाते समय विद्यापति की पदावली गाने की वह चेष्टा अवश्य करेगा।...फूटी भाथी से जैसी आवाज निकलती है, वैसी ही आवाज़ !...सों-य, सों-य।

पंद्रह बीस साल पहले तक 'विद्यापति' नाम की थोड़ी 'पूछ' हो जाती थी। शादी-ब्याह, यज्ञ-उपनैन, मुंडन-छेदन आदि शुभ कार्यों में 'विदपतिया' मंडली की बुलाहट होती थी। पँचकौड़ी मिरदंगिया की मंडली ने, सहरसा और पूर्णियाँ जिले में काफी 'जश' कमाया है।...पँचकौड़ी मिरदंगिया को कौन नहीं जानता ! सभी जानते हैं, वह अधपगला है !...गाँव के बड़े-बूढ़े कहते हैं—'अरे !...पँचकौड़ी मिरदंगिया का भी एक जमाना था ! जा रे जमाना !'

इस 'जमाने' में मोहना जैसा लड़का भी है ! सुन्दर, सलोना और सुरीला !...'रसपिरिया' गाने का आग्रह करता है—'एक रसपिरिया गाओ न मिरदंगिया !' 'रसपिरिया सुनोगे ?...अच्छा, सुनाऊँगा। पहले बताओ, किसने...!'

'हे-ए-ए-ह हे-ए...मोहना ! बैल भागे... !'—एक चरवाहा चिल्लाया—'रे मोहना ! पीठ की चमड़ी उधेरेगा करमू !'

'अरे बाप !'—मोहना भागा।

उसको छोड़ कर मोहना दूर भाग गया है। वह आतुर होकर प्रतीक्षा कर रहा है। जी करता है, दौड़ कर उसके पास चला जाये। ..दूर चरते हुये मवेशी के झुंडों की ओर बार-बार वह बेकार देखने की चेष्टा करता था। सब धुँधला।

उसने अपनी झोली टटोल कर देखा, आम हैं, मूढ़ी है।...उसे भूख लगी। मोहना के सूखे मुँह की याद आई और भूख मिट गई।

मोहना जैसे सुन्दर, सुशील लड़कों की खोज में ही उसकी जिन्दगी के अधिकांश दिन बीते हैं!......बिदापत नाच में नाचने वाले 'नटुआ'[२] का अनुसंधान? खेल बात नहीं।...सवर्णों के घर में नहीं, छोटी जाति के लोगों के यहाँ 'मोहना' जैसा 'लड़की मुँहा'—लड़का हमेशा पैदा नहीं होते।...वे 'अवतार' लेते हैं!...समय-समय पर। जदा जदा हि...

मैथिल ब्राह्मण, कायस्थों और राजपूतों के यहाँ 'बिदापत' वालों की बड़ी इज्जत होती थी।...अपनी बोली—'मिथिलाम'—में 'नटुआ' के मुँह से—'जनम अवधि हम रूप निहारल' सुन कर वे निहाल हो जाते थे।...इसलिये हर मण्डली का 'मूलगैन' नटुआ की खोज में गाँव-गाँव भटकता फिरता था। ऐसा लड़का, जिसे 'सजा धजा' कर नाच में उतारते ही दर्शकों में एक फुसफुसाहट फैल जाय।

—'ठीक ब्राह्मणी की तरह लगता है। है न?'

—'मधुकान्त ठाकुर की बेटी की तरह...।'

—'न: !...छोटी चम्पा जैसी सूरत है।'

पँचकौड़ी 'गुनी' आदमी है। दूसरी-दूसरी मण्डली में 'मूलगैन' और मिरदंगिया की अपनी-अपनी जगह होती। पँचकौड़ी मूलगैन भी था और 'मिरदंगिया' भी। गले में मृदंग लटका कर बजाते हुये, वह गाता था—नाचता था। एक सप्ताह में ही नया 'लड़का' भाँवरी देकर 'परवेश' में उतरने योग्य नाच सीख लेता था।

नाच और गान सिखाने में कभी उसे कठिनाई नहीं हुई, मृदंग के स्पष्ट 'बोल' पर लड़कों के पाँव स्वयं ही थिरकने लगते थे।...लड़कों के जिद्दी मां बापों से [illegible] 'सर-सर्टिफिकेट' व्यापार होता था। [illegible] में और भी [illegible]

—[illegible] भी [illegible] थे। नाच तो एक गुन है।...अरे,

[२] [illegible]

'जालक' कहो या 'दरवुआरी'। चोरी, डकैती और आवारागर्दी से अच्छा है अपना 'गुन' दिखा कर, लोगों को रिझाकर—गुजारा करना।...

एक बार उसे लड़के की चोरी भी करनी पड़ी थी।...बहुत पुरानी बात है।...इतनी मार लगी थी कि। बहुत पुरानी बात है।

'पुरानी ही सही, बात तो ठीक है।...रसपिरिया बजाते समय तुम्हारी उँगली टेढ़ी हुई थी। ठीक है न ?'

मोहना न जाने कब लौट आया !

मिरदंगिया के चेहरे पर चमक लौट आई ! वह मोहना की ओर एक टकटकी लगा कर देखने लगा।...यह 'गुनवान' मर रहा है। धीरे-धीरे, तिल-तिल कर वह खो रहा है। लाल लाल ओठों पर बीड़ी की कालिख लग गई है। ...पेट में पिल्ही है। जरूर।...

मिरदंगिया वैद्य भी है। एक झुंड बच्चों का बाप धीरे-धीरे एक पारिवारिक डाक्टर की योग्यता हासिल कर लेता है।...उत्सवों के 'बासी टटका' भोजनों की प्रतिक्रिया कभी-कभी बहुत बुरी होती। मिरदंगिया अपने साथ निमक सुलेमानी, चानमार पाचन और कुनैन की गोली हमेशा रखता था।...लड़कों को सदा गर्म पानी के साथ हल्दी की बुकनी खिलाता। पीपल, काली मिर्च, अदरख वगैरह को घी में भून कर शहद के साथ सुबह शाम चटाता।...गर्म पानी !

पोटली से मूढ़ी और आम निकालते हुये मिरदंगिया बोला—'हाँ, गर्म पानी ! तेरी पिल्ही बढ़ गई है। गर्म पानी पीओ !'

'यह तुमने कैसे जान लिया। फारबिसगंज के डाक्टर बाबू भी कह रहे थे—पिल्ही बढ़ गई है। दवा...।'

आगे कहने की जरूरत नहीं। मिरदंगिया जानता है, मोहना जैसे लड़कों के पेट की पिल्ही चिता पर ही गलती है !...क्या होगा पूछ कर कि दवा क्यों नहीं करवाते।'

'माँ भी कहती है, हल्दी की बुकनी के साथ रोज गरम पानी पी। पिल्ही गल जायगी।'

मिरदंगिया ने मुस्कुरा कर कहा—'बड़ी सयानी है तुम्हारी माँ !'

केले के सूखे पत्तल पर मूढ़ी और आम रख कर उसने बड़े प्यार से कहा—'आओ। एक मुट्ठी खा लो।'

'नहीं मुझे भूख नहीं।'

किंतु, मोहना की आँखों से रह-रह कर कोई झाँकता था, मूढ़ी और

आम को एक साथ निगल जाना चाहता था। भूखा, बीमार भगवान !

'आओ ! खा लो बेटा !...रसपिरिया नहीं सुनोगे ?'

मां के सिवा, आज तक किसी अन्य व्यक्ति ने मोहना को इस तरह प्यार से, कभी परोसे भोजन पर नहीं बुलाया।...लेकिन, दूसरे चरवाहे देख लें तो मां से कह देंगे।...भीख का अन्न !

'नहीं, मुझे भूख नहीं।'

मिरदंगिया अप्रतिभ हो जाता है। उसकी आँखें फिर सजल हो जाती हैं। मिरदंगिया ने मोहना जैसे दर्जनों सुकुमार बालकों की सेवा की है। अपने बच्चों को भी शायद वह इतना प्यार नहीं दे सकता।...और अपना बच्चा ! हूं !...अपना-पराया अब तो सब अपने—सब पराये।...

'मोहना !'

'कोई देख लेगा, तो ?'

'तो क्या होगा ?'

'माँ से कह देगा। तुम भीख मांगते हो न।'

'कौन भीख मांगता है ?'—मिरदंगिया के आत्मसम्मान को इस भोले लड़के ने बेवजह ठेस लगा दी। उसके मन की 'झांपी' में कुंडलीकार कर सोया हुआ साँप फन फैला कर फुफकार उठा—'ए स्साला ! मारेंगे वह तमाचा कि......।'

'ऐ ! गाली क्यों देते हो !'—मोहना ने डरते-डरते प्रतिवाद किया।

वह उठ खड़ा हुआ, पागलों का क्या विश्वास ?

आसमान में उड़ते हुये चील ने फिर टिंहकारी भरी—'टिं-हीं...ईं'...टिंहि-क !'

'मोहना !'—मिरदंगिया की आवाज गंभीर हो गई।

मोहना जरा दूर जा कर खड़ा हो गया।

'किसने कहा तुमसे कि मैं भीख मांगता हूं।......मिरदंग बजा कर, पदावली गाकर लोगों को 'रिझा' कर पेट पालता हूँ।...तुम ठीक कहते हो, भीख का ही अन्न है यह। भीख का ही फल है यह।...मैं नहीं दूंगा।...तुम बैठो, मैं 'रसपिरिया' सुना दूँ।'

मिरदंगिया का चेहरा धीरे-धीरे विकृत हो रहा है।...आसमान में उड़ने वाली चील अब पेड़ की डाली पर आ बैठी है।...टिं टिंहि टिंहिक !

मोहना डर गया। एक डग, दो डग...और दौड़ ! वह भागा।

एक बीघा दूर जाकर उसने चिल्ला कर कहा—'डायन ने 'बान' मार कर तुम्हारी उँगली टेढ़ी कर दी है।...झूठ क्यों कहते हो कि 'रसपिरिया' बजाते समय......!'

ऐं!...कौन है यह लड़का? कौन है यह मोहना?...रमपतिया भी कहती थी—'डायन ने बान मार दिया है!'

'मोहना!'

मोहना ने जाते-जाते चिल्ला कर कहा—'करैला!' अच्छा!...तो, मोहना यह भी जानता है कि मिरदंगिया करैला कहने से चिढ़ता है।...कौन है यह मोहना?

मिरदंगिया आतंकित हो गया। उसके मन में एक अज्ञात भय समा गया। ...वह थर-थर काँपने लगा।...कमलपूर के बाबुओं के यहाँ जाने का उत्साह भी नहीं रहा।...सुबह, शोभा मिसर के लड़के ने ठीक ही कहा था।

उसकी आँखों से आँसू झरने लगे।

जाते-जाते मोहना डंक मार गया।...उसके अधिकांश शिष्यों ने ऐसा ही व्यवहार किया है उसके साथ...नाच सीख कर 'गुरु' से उड़ जाने का बहाना खोजने वाले एक-एक लड़कों की बातें उसे याद हैं!

सोनमा ने तो गाली ही दी थी—'गुरुगिरी करता है, चोट्टा!'...

रमपतिया ने आकाश की ओर हाथ उठाकर बोली थी—'हे दिनकर!...साक्षी रहना। मिरदंगिया ने फुसला कर मेरा 'धर्मनाश' किया है। मेरे मन में कभी चोर नहीं था। हे सुरुज भगवान! इस 'दसदुआरी' कुत्ते का अंग-अंग फूट कर...!'

मिरदंगिया ने अपनी टेढ़ी उँगली को हिलाते हुये एक लम्बी साँस ली।...रमपतिया! जोधन गुरु जी की बेटी रमपतिया! जिस दिन वह पहले पहल जोधन की मण्डली में शामिल हुआ था—रमपतिया बारहवें में पाँव रख रही थी।...बाल विधवा रमपतिया 'पदों' का अर्थ समझने लगी थी। काम करते-करते वह गुनगुनाती थी—'नव अनुरागिनी राधा, किछु नहिं मानय बाधा।...' मिरदंगिया मूलगैनी सीखने गया था और गुरु जी ने उसे मृदंग धरा दिया था।...आठ वर्षों तक तालीम पाने के बाद जब गुरु जी ने स्वजात पंचकौड़ी से रमपतिया के 'चुमौना' की बात चलाई तो मिरदंगिया सभी 'ताल मात्रा' भूल गया। जोधन गुरु जी के पास उसने अपनी जात छिपा रखी थी। रमपतिया से उसने झूठा 'परेम' किया था।...गुरु जी की मण्डली

छोड़ कर वह रातोंरात भाग गया था। उसने गाँव आकर अपनी गृहस्थी बनाई, लड़कों को सिखाया-पढ़ाया और कमाने खाने लगा।...लेकिन, वह 'मूलगैनी' नहीं हो सका कभी। मिरदंगिया ही रहा सब दिन।...जोधन गुरु जी की मृत्यु के बाद, एक बार गुलाब बाग मेले में रमपतिया से उसकी भेंट हुई थी। रमपतिया उसी से मिलने आई थी।...पँचकौड़ी ने साफ जवाब दे दिया था—'क्या झूठ फरेब जोड़ने आई है। कमलपूर के नन्दू बाबू के पास क्यों नहीं जाती, मुझे उल्लू बनाने आई है। नन्दूबाबू का घोड़ा बारह बजे रात को।...' चीख उठी थी रमपतिया—'पाँचू!...चुप रहो!'

उसी रात रसपिरिया बजाते समय उसकी उँगली टेढ़ी हो गई थी! मृदंग पर जमीनका देकर वह 'परवेश' का ताल बजाने लगा। 'नटुआ' ने डेढ़ 'मातरा' बेताला होकर प्रवेश किया तो उसका माथा ठनका। 'परवेश' के बाद उसने 'नटुआ' को झिड़की दी—'एस्साला! मारते थप्पड़ों से गाल लाल कर दूँगा!'... और 'रसपिरिया' की पहली कड़ी ही टूट गई। मिरदंगिया ने ताल को संभालने की बहुत चेष्टा की। मृदंग की सूखी चमड़ी जी उठी, दहिने 'पूरे' पर 'लावा फरही' फूटने लगे और ताल कटते कटते उसकी उँगली टेढ़ी हो गई।...झूठी टेढ़ी उँगली!...हमेशा के लिये पँचकौड़ी की मँडली टूट गई।...धीरे-धीरे इलाके से विद्यापति नाच ही उठ गया। अब तो कोई विद्यापति की चर्चा भी नहीं करते हैं।...धूप-पानी से परे पँचकौड़ी का शरीर ठंढी महफिलों में ही पनपा था।...बेकार जिन्दगी में मृदंग ने बड़ा काम दिया। बेकारी का एक मात्र सहारा—मृदंग!

एक युग से वह गले से मृदंग लटका कर भीख मांग रहा है—धा तिंग, धा तिंग!...

वह एक आम उठा कर चूसने लगा—लेकिन, लेकिन,...लेकिन... मोहना को 'जोबन' की बात कैसे मालूम हुई?

उँगली टेढ़ी होने की खबर सुन कर रमपतिया दौड़ी आई थी, घंटों उँगली को पकड़ कर रोती रही थी—'हे दिनकर!...किसने इतनी बड़ी दुश्मनी की? उसका बुरा हो।...मेरी बात लौटा दो 'भगवान'! गुस्से में कही हुई बातें। नहीं, नहीं। पाँचू, मैंने कुछ भी नहीं किया है। जरूर किसी ने 'बान' मार दिया है...!'

मिरदंगिया ने आँखें खोलते हुए, उगते हुए सूरज की ओर देखा।..

इस 'मृदंग' को कलेजे से सटा कर रखवालिया ने कितनी रातें काटी हैं।...मिर-दंग को उसने छाती से लगा लिया!...

पेड़ की डाली पर बैठी हुई चील ने अकड़ते हुए चोंच से कुछ कहा—'टिं-टिं-टिंक्!'

'एस्साला!'—उसने चील को गाली दी। तम्बाकू चुनिया कर मुँह में डाल लिया और मृदंग के पूरे पर उँगलियाँ नचाने लगा—धिरिनागि, धिरिनागि, धिरिनागि-धिनता!

पूरी 'जमीनका' वह नहीं बजा सका। बीच में ही ताल टूट गया।

'अ-कि-हे-ए-ए-ए-हा-आ-आ-ह-हा!'

सामने झरबेरी के जंगल के उस पार किसी ने सुरीली आवाज़ में, बड़े समारोह के साथ 'रसप्रिया' की पदावली उठाई—

"न-व-वृन्दा-वन न-व-न-व-त-रु ग-न न-व-न-व-विकसित फूल...।"

मिरदंगिया के सारे शरीर में एक लहर दौड़ गई! उसकी उँगलियाँ स्वयं ही मृदंग के 'पूरे' पर थिरकने लगीं। गाय-बैलों के झुंड दोपहरी की उतरती छाया में आकर जमा होने लगे।

खेतों में काम करने वालों ने कहा—'पागल है। जहाँ जी चाहा, बैठकर बजाने लगता है।'

'बहुत दिनों के बाद लौटा है।'

'हम तो समझते थे कि कहीं 'मर-खप' गया।'

रसप्रिया की सुरीली रागिनी ताल पर आकर कट गई! मिरदंगिया का पागलपन अचानक बढ़ गया। वह उठ कर दौड़ा। झरबेरी की झाड़ी के उस पार...कौन है? कौन है यह शुद्ध रसप्रिया गाने वाला!...इस जमाने में रस-प्रिया का रसिक...!

झाड़ी में छिप कर मिरदंगिया ने देखा, मोहना तन्मय होकर दूसरे पद की तैयारी कर रहा है। गुनगुनाहट बंद करके उसने गले को साफ किया। मोहना के गले में राधा आकर बैठ गई है!

"न-दी-बह नयनक नी...र।

आहो...पललि बहए ताहि ती...र।"

मोहना बेसुध होकर गा रहा था। मृदंग के 'बोल' पर वह झूम-झूम कर गा रहा था। मिरदंगिया की आँखें उसे एकटक 'निहार' रही थीं और उसकी उँगलियाँ [illegible] थीं।...[illegible]

वर्षा का 'अप्रपागल' गुणों के बाद भावावेश में नाचने लगा !...रह-रह कर वह अपनी विकृत आवाज में 'पदों' की कड़ी धरता—'फोंय फोंय, सोंय-सोंय !'

'धिरिनागि धिनता !'

'दुहु रस...म...य तनु गुने नहीं ओर।

'लागल दुहुक न भाँगय जो-र !'

मोहना के आधे काले और आधे लाल ओठों पर नई मुस्कुराहट दौड़ गई। 'पद' समाप्त करते हुये वह बोला—'इस्स ! टेढ़ी उँगली पर। इतना तेज !'

मोहना हाँफने लगा। उसकी छाती की हड्डियाँ !

उफ् !...मिरदंगिया धम्म से जमीन पर बैठ गया—'कमाल ! कमाल !! ...किससे सीखे ? कहाँ सीखी तुमने पदावली। कौन है तुम्हारा गुरु ?'

मोहना ने हँस कर जवाब दिया—'सीखूँगा कहाँ ? माँ तो रोज गाती है।...'प्राती' मुझे बहुत याद है। लेकिन अभी तो उसका समय नहीं।' 'हाँ बेटा ! बेताले के साथ कभी मत गाना बजाना। जो कुछ भी है, सब चला जायेगा।...समय कुसमय का भी ख्याल रखना।...लो, अब आम खा लो।'

मोहना, बेझिझक आम लेकर चूसने लगा।

'एक, और लो।'

मोहना ने तीन आम खाये और मिरदंगिया के विशेष आग्रह पर दो मुट्ठी मूढ़ी भी फाँक गया।

'अच्छा, अब एक बात बताओगे मोहना ? तुम्हारे माँ बाप क्या करते हैं ?'

'बाप नहीं है। अकेली माँ है, बाँस गढ़कर, बाबू लोगों के घर कुटाई पिसाई करती है।'

'और, तुम नौकरी करते हो ?—किसके यहाँ ?'

'कमलपुर के नन्दूबाबू के यहाँ।'

'नन्दूबाबू के यहाँ ?'

मोहना ने बताया, [illegible] तीसरे साल सारा गाँव कोसी मैया के पेट में चला गया।...[illegible] उसे लेकर अपने 'ममहर' आई है—कमलपुर...।'

'कमलपुर में [illegible] माँ के [illegible] हैं ?'

[illegible] ओर देखता रहा।...नंदू [illegible]

'डायन वाली बात तुम्हारी माँ कह रही थी ?'

'हाँ।...और, एक बार सामदेव झा के यहाँ जनेऊ में तुमने गिरधर पट्टी मंडली वालों का मिरदंग छीन लिया था।...बेताला बजा रहा था। ठीक है न ?'

मिरदंगिया की खिचड़ी दाढ़ी मानो अचानक सफेद हो गई।...उसने अपने को सँभालकर पूछा—'तुम्हारे बाप का क्या नाम ?'

'अजोधादास !'

'अजोधादास ?'

बूढ़ा अजोधादास, जिसके मुँह में न बोल न आँख में 'लोर'।...मंडली में गठरी ढोता था। बिना पैसे का नौकर बेचारा अजोधादास...!

'बड़ी सयानी है तुम्हारी माँ।' —एक लम्बी साँस लेकर मिरदंगिया ने अपनी झोली से एक छोटा बटुआ निकाला। लाल-पीले कपड़ों के टुकड़ों को खोल कर कागज की एक पुड़िया निकाली उसने।...

मोहना ने पहचान लिया—'लोट ? क्या है, लोट ?'

'हाँ, नोट है।

'कितने रुपये वाला है ? पँचटकिया। ऐं...दसटकिया ? जरा छूने दोगे ? कहाँ से लाये ?'—मोहना एक ही साँस में सब कुछ पूछ गया—'सब दसटकिया है ?'

'हाँ, सब मिला कर चालीस रुपये हैं।' मिरदंगिया ने एक बार इधर उधर निगाहें दौड़ाईं, फिर फुसफुसाकर बोला—मोहना बेटा ! फारबिसगंज के डागडर बाबू को देकर बढ़िया दवा लिखा लेना।...खट्टा मीठा परहेज करना।...गर्म पानी जरूर पीना।

'रुपये मुझे क्यों देते हो ?'

'जल्दी रख ले ! कोई देख लेगा।'

मोहना ने भी एक बार चारों ओर नजर दौड़ाई। उसके ओठों की कालिमा और गहरी हो गई।

मिरदंगिया बोला—'बीड़ी तम्बाकू भी पीते हो ?...खबरदार !'

वह उठ खड़ा हुआ।

मोहना ने रुपये ले लिये।

'अच्छी तरह गाँठ में बाँध ले। माँ से कुछ मत कहना।'

...और हाँ, यह भीख का पैसा नहीं। बेटा, यह मेरी कमाई के पैसे हैं ! अपनी कमाई के...।'

मिरदंगिया ने जाने के लिये पाँव बढ़ाया। 'मेरी माँ खेत में घास गढ़ रही है।...चलो न।'—मोहना ने आग्रह किया।

मिरदंगिया रुक गया। कुछ सोच कर बोला—'नहीं मोहना। तुम्हारे जैसा गुनवान बेटा पाकर तुम्हारी माँ 'महरानी' है, मैं महाभिखारी। दसदुआरी हूँ। जाचक, फकीर...। दवा से जो पैसे बचें, उसका दूध खाना।

मोहना की बड़ी-बड़ी आँखें कमलपुर के नंदू बाबू की आँखों जैसी हैं...

'रे मो-ह ना-रे-हे! बैल कहाँ है रे?'

'तुम्हारी माँ पुकार रही है शायद।'

'हाँ। तुमने कैसे जान लिया?'

'रे-मोहना-रे-हे!'

एक गाय ने सुर में सुर मिला कर अपने बछड़े को बुलाया।

गाय बैल घर के लौटने का समय हो गया। मोहना जानता है, माँ बैल हाँक कर ला रही होगी। झूठमूठ उसे बुला रही है। वह चुप रहा।

'जाओ!'—मिरदंगिया ने कहा—'माँ बुला रही है। जाओ।...अब से मैं—पदावली नहीं, रसपिरिया नहीं—निरगुन गाऊँगा।—देखो, मेरी उँगली शायद सीधी हो रही है। शुद्ध 'रसपिरिया' कौन गा सकता है आजकल?'

'अरे, चलू मन, चलू मन—ससुरार जइबे हो रामा,
कि आहो रामा,
नैहरा में अगिया लगायब रे-की...।'

खेतों की पगडंडी झरबेरी के जंगल के बीच होकर जाती है।...निरगुन गाता हुआ मिरदंगिया झरबेरी की झाड़ियों में छिप गया।

'हे! यहाँ अकेला बैठा होकर क्या करता है?...कौन बजा रहा था मृदंग रे?'—घास का बोझा सिर पर लेकर मोहना की माँ खड़ी है।

'पँचकौड़ी मिरदंगिया!'

'ऐं, वह आया है? आया है वह?'—उसकी माँ ने बोझ जमीन पर पटकते हुए पूछा।

'मैंने उसके ताल पर रसपिरिया गाया है।...कहता था—इतना शुद्ध रस-पिरिया कौन गा सकता है आजकल!...उसकी उँगली अब सीधी हो जायगी।'

माँ ने [illegible] बीमार मोहना को अपनी छाती से सटा लिया।

'लेकिन तू तो हमेशा उसकी टोकरी भर शिकायत करती थी—बेईमान है, गुरुद्रोही है, झूठा है।'

'है ही तो!...वैसे लोगों की संगत ठीक नहीं। खबरदार, जो उसके साथ फिर कभी गाया। दस दुआरी जानकों से हेलमेल करके अपना ही नुक-सान होता है।...चल, उठा दे बोझ।'

मोहना ने बोझ उठाते समय कहा—'जो भी हो, गुनी आदमी के साथ रसपिरिया...।'

'चोप! रसपिरिया का नाम मत ले!'

अजीब है माँ। जब गुस्सायेगी तो बाघिन की तरह और जब खुश होती है तो गाय की तरह हुँकारती आयेगी और छाती से लगा लेगी। तुरत खुश, तुरत नाराज।...

दूर से मृदंग की आवाज़ आई—'धा तिंग, धा तिंग!'

मोहना की माँ खेत के उबड़-खाबड़ मेड़ पर चल रही थी। ठोकर खाकर गिरते-गिरते बची। घास का बोझ गिर कर खुल गया!—मोहना पीछे-पीछे मुँह लटका कर आ रहा था। बोला—'क्या हुआ माँ?'

'कुछ नहीं!'

'धा तिंग, धा तिंग!'

मोहना की माँ खेत की मेड़ पर बैठ गई। जेठ की शाम से पहले जो पुरवैया चलती है, धीरे-धीरे तेज हो गई।..मिट्टी की सोंधी सुगंध हवा में धीरे-धीरे घुलने लगी।

'धा तिंग, धा तिंग!'

'...मिरदंगिया और कुछ बोलता था बेटा?'—मोहना की माँ आगे कुछ नहीं बोल सकी।

'कहता था—तुम्हारे जैसा गुनवान बेटा पाकर तुम्हारी माँ महारानी है, मैं तो दसदुआरी हूँ...।'

'झूठा, बेईमान!' मोहना की माँ आँसू पोंछ कर बोली—'ऐसे लोगों की संगत कभी मत करना।'

—मोहना चुपचाप खड़ा रहा।
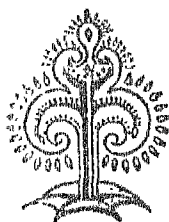
बुद्ध चरित

महादेवी वर्मा

मित्र, देखो मंजरित सहकार का तरु
गन्धमधु-सुरभित खिला जिसका सुमन दल,
बैठ जिसमें मधु गिरा में बोलता यह,
लग रहा है हेम-पंजरबद्ध, कोकिल ।

रक्तपल्लवयुक्त आज अशोक देखो
प्रेमियों के हित सदा जो विरहवर्धन,
जान पड़ता दुःख ज्वाला से विकल हो
कर रहे उसमें भ्रमर के वृन्द गुंजन ।

आज उपवन तिलक-द्रुम को भेंट कर यह
पीतवर्णी रसाल-शाखा यों सुशोभित,
शुभ्रवेषी पुरुष के ज्यों संग नारी
पीत केसर अंगरागों से प्रसाधित ।

सद्य ही जिसको निचोड़ा राग के हित
यह अलक्तक-कान्ति शोभी फुल्लकुरबक
नारियों की नख-प्रभा से चकित होकर
आज लज्जा-भार से मानो रहा झुक ।

नीर पर जिसके उगे हैं सिन्धुवारक,
देख कर इस पुष्करिणी को हो रहा भ्रम,
धवल अंशुक ओढ़ कर मानों यहाँ हो
सो रही लेटी हुई कोई मनोरमा।

देख, आज वसन्त में ही राग उन्मद
बोलता है पिक सुनो कुछ यह मधुर स्वर,
और प्रतिध्वनि सी उसी की जान पड़ता
दूसरे पिक का कुहू में दिया उत्तर।

मोह से उन्मत्त-चित्त प्रमदा जनों के
हाव-भावों के बनायें आज पालित,
'मृत्यु निश्चित' सोचता मन धीर संयत
हो सका न प्रसन्न और न खिन्न, उन्मन।

(अश्वघोष कृत
'बुद्ध चरित'
चतुर्थ सर्ग से अनूदित)

एक उत्कृष्ट प्रकाशन परंपरा

[illegible] का प्रकाशन उत्तर भारत की ख्यातिप्राप्त प्रकाशन संस्था साहित्य भवन लि० द्वारा हुआ है। साहित्य भवन हिंदी की उन प्रकाशन संस्थाओं में है जिनकी स्थापना ही व्यावसायिक उद्देश्यों से न होकर हिन्दी के विकास और उसके उत्कृष्ट साहित्य-सृजन को लोक सुलभ बनाने के उद्देश्य से हुई थी। पिछले पचास वर्षों से साहित्य भवन अपने इस उद्देश्य का तत्परता से निर्वाह करता रहा है। इसमें एक ओर उसे प्रबुद्ध और सुरुचि सम्पन्न हिन्दी पाठकों का [illegible] और दूसरी ओर हिन्दी की नयी और [illegible] शाली लेखकों का। छायावादी कवि [illegible] पीढ़ी के लेखकों और समीक्षकों में से सर्वश्री महादेवी वर्मा, सुमित्रानन्दन पंत, डा० रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, डा० धीरेन्द्र वर्मा, परशुराम चतुर्वेदी, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, विनयमोहन शर्मा, तथा सेठ गोविंददास हमारे लेखक-परिवार में हैं। इस पीढ़ी के उपरान्त इधर दस वर्षों में ख्याति [illegible] कवियों, कथाकारों और समीक्षकों में से [illegible] सदस्य हैं। सर्वश्री [illegible], प्रभाकर [illegible], डा० [illegible], डा० धर्मवीर भारती, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा० [illegible], डा० देवराज उपाध्याय, डा० भगीरथ [illegible], [illegible] तथा गिरधर गोपाल की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ [illegible] की गई हैं।

'निकष' इसी पीढ़ी के उन कतिपय लेखकों के सर्जना की उपलब्धि है जो अजीब अतिवाद या खोखले राजनीतिक उपयोगितावाद की मृगतृष्णाओं या व्यक्तित्व की निर्गुण घोषणाओं की उपेक्षा करते हुए उत्कृष्ट मानवतावादी साहित्य का सृजन करते आ रहे हैं। 'निकष' को प्रकाशित करते हुए साहित्य भवन अपनी उत्कृष्ट प्रकाशन परंपरा में एक गौरवपूर्ण अभिवृद्धि करता है।

● *साहित्य भवन के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन---*

उपन्यास

●

गिरधर गोपाल
चाँदनी के खण्डहर २)

केशवचन्द्र वर्मा
काठ का उल्लू और कबूतर ३)

प्रभाकर माचवे
द्वाभा ३)

धर्मवीर भारती
सूरज का सातवाँ घोड़ा १॥)
गुनाहों का देवता ४)

दुर्गाशंकर मेहता
अनबुझी प्यास ७॥)

मन्मथनाथ गुप्त
बहता पानी ३॥)

अंचल
मरु-प्रदीप २॥)

रघुवंश
छायातप (कहानियाँ) २॥)

निबंध

●

सुमित्रानन्दन पंत
गद्य-पथ ३)

विनयमोहन शर्मा
साहित्यावलोकन ३)

परशुराम चतुर्वेदी
मध्यकालीन प्रेमसाधना ३)

सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
चन्द्रगुप्त २॥)

धीरेन्द्र वर्मा
विचारधारा २॥)

[illegible]
[illegible] ४)
[illegible])

क्षितिमोहन सेन
संस्कृति-संगम २॥)
भारतवर्ष में जाति भेद २॥)

गुरुदयाल मल्लिक
दिल की बात ३)

समीक्षा

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र २॥)
डा० लक्ष्मीनारायण लाल
हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास—मूल्य १०)
डा० देवराज उपाध्याय
आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान (यन्त्रस्थ)
डा० रघुवंश
प्रकृति और काव्य
हिन्दी खण्ड ६॥)
संस्कृत खण्ड ६॥)
नामवर सिंह
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग ५)
शिवप्रसाद सिंह
कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा ५)

कविता

महादेवी वर्मा
नीहार ३)
रश्मि ३)
रामकुमार वर्मा
अंजलि १)
धर्मवीर भारती
ठंडा लोहा ३)
अंचल
वर्षान्त के बादल ३)

नाटक

डा० रामकुमार वर्मा
कौमुदी महोत्सव १॥)
शिवाजी १)
चार ऐतिहासिक नाटक १॥)
सेठ गोविन्ददास
महत्व किसे १)
लक्ष्मीनारायण मिश्र
मुक्ति का रहस्य २)

अनुवाद

डा० एस० पी० खत्री
मुक्ति की राह ६)
गोपीकृष्ण गोपेश
विदेशों के महाकाव्य ६॥)
पूँजीपति ३)
धर्मवीर भारती
आस्कर वाइल्ड की कहानियाँ २)

अन्य

आचार्य नन्दलाल बसु
शिल्पकला १)
डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
कला और संस्कृति ४॥)
डा० [illegible] शर्मा
[illegible] ३)
[illegible]
अंग्रेज़ कवियों की हिन्दी रचनाएँ २॥)
[illegible]
हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव २॥)